याज्ञवल्क्य और कहोल

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ६६

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

प्रथम संस्करण १००० | जून १९७२ आषाढ़ सं०–२०२९ | मूल्य : २. रु०

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग ।

विषय-सूची

श्री भागवत-चरित सटीक

टीकाकार

'भागवत चरित व्यास' प० रामानुज पाण्डेय,
बी० ए० विशारद

'भागवत चरित' विशेषकर व्रजभाषा की छप्पय छन्दों में लिखा गया है। जो लोग व्रजभाषा को कम समझते हैं, उन लोगों को छप्पय समझने मे कठिनाई होती है। उनके लिये लोगों की माँग हुई कि छप्पयो की सरल हिन्दी मे भाषा टीका की जाय। संवत् २०२२ विक्रमी मे इसका पूर्वार्द्ध प्रकाशित हुआ। उसकी दो हजार प्रतियाँ छपायीं। छपते ही वे सब की-सब निकल गई। अब उत्तरार्द्ध की माँग होने लगी। जो लोग पूर्वार्द्ध ले गये थे, वे चाहते थे पूरी पुस्तक मिले किन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण छपने मे विलम्ब हुआ साथ ही लोगो की यह भी माँग थी, कि कुछ मोटे अक्षरो मे छापा जाय। प्रभु कृपा से अब के रामायण की भाँति बडे आकार मे मोटे अक्षरों मे (२० पा०) अर्थ सहित प्रकाशित की गई हैं। प्रत्येक खड में ८५० से अधिक पृष्ठ मजबूत एव सुन्दर कपडे की जिल्द, चार-चार तिरगे चित्र और लगभग ३५० एकरंगे चित्र हैं। मूल्य लागत मात्र से भी कम ४२) रु० रखा गया है। एक खंड का मूल्य २१) रु० डाक खर्च अलग। आज ही पत्र लिखकर अपनी प्रति मँगा लें।

—व्यवस्थापक

हमारी नयी पुस्तक–

भागवत चरित-संगीत सुधा

स्वरकार

बंशीधर शर्मा, 'भागवत चरित व्यास'

भारतवर्ष के अनेकों स्थान से लोग पूज्यपाद श्री ब्रह्मचा
महाराज के दर्शनों के लिये आते रहते हैं। दर्शन के साथ इ
होती है, कि श्री महाराज जी के मुखारविन्द से अमृतमयी
का श्रवण करें। आश्रम पर नित्य नियम से कथा, कीर्तन
पाठ होते रहते हैं। जो भी एक बार भागवत चरित को सुन
है, उसकी इच्छा होती है इसे बार-बार सुनें, किन्तु सुनें
जब तक ताल स्वर बाजा तबला पर गाने वाले न हों रस
आता। जिन लोगों ने धुनि नहीं सुनी उनके लिये यह न
राग है। अतः बहुत दिनों से लोगों के समाचार आते रहे
भागवत चरित को शास्त्रीय संगीत में लिपिबद्ध कराके छ
दीजिये। उसी आधार पर यह 'भागवत चरित-संगीत स
तैयार की गई है। आशा है भागवत चरित पाठक इस पुस्तक
लाभ उठावेंगे।

–व्यवस्था

संस्मरण

(१५)

काशीजी में

सत्य सत्यं पुनः सत्य सत्य सत्य पुनः पुनः ।
दृश्यो विश्वेश्वरो नित्य स्नातव्या मणिकर्णिका ॥*
(स्क० पु० का० ख०)

छप्पय

सगम वरुणा–असी बसैं विश्वेश्वर जित नित ।
जहँ मरिबे तैं मुक्ति वास तैं स्वरग मिले जित ॥
दडपाणि अरु ढुन्ढि बिन्दुमाधव भैरव जहँ ।
विश्वनाथ काशीश अन्नपूर्णा माता जहँ ॥
काशी शिव तिरशूल पै, बसी बहै गगा जहाँ ।
जहाँ घाट मणिकरणिका, बसहिँ भाग्यशाली तहाँ ॥

कान्यकुब्ज, काशी और कश्मीर ये प्राचीन काल में सस्कृत द्या के केन्द्र थे। देश मे कोई भी लेखक कवि नवीन ग्रन्थ

---

* लोमहर्षण सूतजी से काशी की पञ्चक्रोशी यात्रा बताते हुए भग-ान वेद व्यासजी कह रहे हैं—"देखो, सूतजी ! मैं तुमसे सत्य-सत्य हता हूँ। बारबार सत्य की शपथ खाकर पुन पुन कहता हूँ। काशीजी रहकर नित्य नियम से विश्वनाथजी के दर्शन करने चाहिये और णिकर्णिका घाट पर गगाजी का स्नान करना चाहिये।"

लिखता, उसे सर्वप्रथम इन तीनों पीठों के विद्वानों की मान्
प्राप्त करनी पड़ती थी। पहिले मुद्रणालय तो थे नहीं कि
चाहे वही अपनी पुस्तक को छपा ले। पहिले तो पुस्तकों
प्रतिलिपियाँ की जाती थीं। बहुत से मसिजीवी पुरुष होते
जो सेकडा पद्य के नियम से पुस्तकों की प्रतिलिपि करते
जिन नूतन पुस्तकों पर विद्वानों की मान्यता प्राप्त हो जाती
उन्हीं की प्रतिलिपियाँ लोग किया करते थे। अपनी पुस्
पर मान्यता की छाप लगवाने समुद्र तट के दक्षिण से कवि
कश्मीर तक जाते थे। उन्हें वहाँ के विद्वान् पण्डितों को अ
विद्या तथा कविता से सन्तुष्ट करना पडता था, तब उनका
सभा में प्रवेश होता था। विद्वानों को सन्तुष्ट करने के पश
पुस्तक पर मान्यता प्राप्त होती थी।

इन सब मे काशी का स्थान सर्वोपरि था। काशी के वि
का समस्त देश में आदर था। काशी के विद्वानों की द
व्यवस्था को सभी देश के लोग मानते थे। काशी के पं
ने जिस विषय पर व्यवस्था दे दी वह शास्त्र सिद्धान्त
गया।

काशी में सभी प्रान्तों के पडित रहते थे। पडितों की
सभायें होतीं, तो उनमें सभी प्रान्तों के पडित एकत्रित ह
उनमें छोटे बड़े का भेद भाव नहीं किया जाता था, जो दक्षि
बड़े-से बडे महामहोपाध्याय को दी जाती, वही दक्षिणा स
रण-से-साधारण पंडित को भी दी जाती। काशी में घर
मे संस्कृत के बड़े-बड़े विद्वान् होते थे। उनकी वशपरम्परा
पण्डित ही होते आते थे। इस प्रकार वहाँ का पांडित्य वशपरं
नुसार होता था। घर-घर में पाठशाला। घर-घर मे अन्नक्षे
मैं जब काशी गया था, तब ही ३६० अन्नक्षेत्र बताये जाते

ृत पढ़ने की इच्छा से काशी में आया कोई विद्यार्थी भूखा
रहता था। यदि एक अन्नक्षेत्र में एक-एक दिन भी जाय तो
वर्ष का काम चल जाता था। सभी प्रान्तों के विद्यार्थी काशी
ढ़ने के लिये आते थे। पढ़ाई निःशुल्क, भोजन निःशुल्क आगे
ना भाग्य रहा। देश भर में काशी के पढ़े विद्वान् का सबसे
धेक आदर होता था। हम जब छोटे थे, तब सुना करते थे—
जी, उनकी विद्वत्ता का क्या कहना वे तो काशीजी में पढ़कर
ये हैं।" काशी का पढ़ा विद्वान् कहीं भी चला जाय, वहीं
दर पाता था।

हमारे यहाँ जब यज्ञोपवीत संस्कार होता था, तब लड़का
कमंडलु लेकर दौड़ता था और कहता था—"मैं काशी पढ़ने
ऊँगा।" ऐसा कहकर कुछ दूर जाता। फिर उसका मामा जा-
लौटा लाता। कहते यहीं तुम्हें पढ़ावेंगे।

काशी हम आर्य वैदिक सनातनधर्मावलम्बियों की माता
। काशी किसी एक प्रान्त की नगरी नहीं समझी जाती थी।
तो अन्तर्राष्ट्रीय नगरी थी। कर्णाटक, द्रविड़, आन्ध्र, वंग,
धु, पंजाब, आसाम, उड़ीसा आदि सभी प्रदेश के पंडित
शी में निवास करते, सभी प्रांतों के धनिकों ने वहाँ विद्यार्थियों
लिये अन्नक्षेत्र खोल रखे थे। भारतवर्ष का कोई भी ऐसा
नेक राजा सेठ श्रीमान् नहीं था जिसका काशी में कोई मंदिर
अन्नक्षेत्र न हो। देश भर की विधवायें अपना वैधव्य जीवन
ाने काशी वास करने यहाँ आ-आकर रहने लगतीं। जो
धिक धनी आता वहाँ पितरों के नाम से एक सॉड यहाँ छोड़
ता। देश भर के संन्यासी यहीं सब कुछ छोड़कर जीवन
र्यन्त काशी में वास करते थे। अतः यह कहावत प्रचलित
है—

रॉड सॉड सीडी संन्यासी। इन तैं बचै तो सेवै काशी। काशी के जैसे घाट गंगाजी पर स्यात् ही कहीं दूसरे स्थान पर हों। सन्यासियों का तो यह गढ ही था। और विद्वानों की तो यह खानि ही मानी जाती थी। इन पचास साठ वर्षों में ही कितना भारी परिवर्तन हो गया। अब काशी में पंडितों के पुत्र पंडित नहीं रहे। बडे-बडे पंडितों के पुत्र कलहोपजीवी अधिवक्ता अधिशासी अभियन्ता, अधिशासी अधिकारी तथा सरकारी कर्मचारी बन गये। यदि यही दशा रही, तो पुराने पंडितों के मर जाने के पश्चात् पचास वर्ष के पश्चात् काशी में खोजने पर भी संस्कृत के पंडित न मिलेंगे। ये जो संस्कृत के विश्वविद्यालयों से परीक्षोत्तीर्ण होकर छात्र निकलते हैं, उनमें किसी भी विषय के प्रोढ विद्वान् नहीं होते। उनका पांडित्य पल्लवग्राही पांडित्य ही होता है। उन प्राचीन पंडितों के समक्ष इनकी पंडितों की श्रेणी में भी गणना नहीं की जा सकती। आज से ५०–६० वर्ष पूर्व काशी में अपने अपने विषय के पूर्ण पंडित अनेक थे। वे एक-एक करके प्रायः सबके सब समाप्त हो गये। काशी का तीर्थत्व तो कहीं जाने का नहीं। किन्तु अब वह बात नहीं रही। श्रीमद्भागवत माहात्म्य में लिखा है—

अत्युग्र भूरि कर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः।
तेऽपितिष्ठन्ति तीर्थेषु तीर्थ सारस्ततो गतः॥

जो अत्यन्त उग्र कर्म करने वाले नास्तिक रौरवी पुरुष हैं वे आकर तीर्थों में रहने लगे हैं, इसलिये तीर्थों का भी प्रभाव जाता रहा।

दिनों दिन धर्महीन नास्तिकों की वृद्धि होने से अब तीर्थों का भी उतना महत्व नहीं रहा। किन्तु अँगरेजी शासन तक इतनी

नास्तिकता नहीं फैली थी। कुछ पुराने लोगों में धार्मिकता थी और काशी के प्रति श्रद्धा थी।

मेरी आरम्भ से ही काशी जाकर अध्ययन करने की इच्छा थी, किन्तु ऐसा संयोग ही नहीं बना। अब जब लखनऊ कारावास में काशीवासियों के ही साथ मुझे रहना पड़ा और उन्होंने काशी आने का बहुत आग्रह किया, तो अंधे तुझे क्या चाहिये ? दो आँख। मेरे मन की बात हो गयी। यद्यपि मैं संस्कृत का विद्यार्थी था, मुझे वहाँ खाने को क्षेत्रों मे अन्न की कमी नहीं थी। किन्तु नेताओं के सग रहने से, सार्वजनिक कार्य करने से अब मुझे क्षेत्रादि के परान्न से अरुचि हो गयी। अब मैंने निश्चय कर लिया अब मैं परान्न पर निर्वाह करके न रहूँगा। स्वयं उपार्जित करके उसी पर निर्वाह करूँगा। देहरादून में बाबू शिवप्रसादजी गुप्त मिल ही चुके थे। उन्होने ज्ञान मण्डल प्रेस मे कुछ कार्य देने का आश्वाशन दे ही दिया था। बाबू सम्पूर्णानन्द जी, पं० शिव विनायक जी मिश्र, प्रो० रामदास जी गौड आदि सभी से परम आत्मीयता हो गयी थी, अतः मैं काशी के लिये चल दिया। पं० शिव विनायक जी मिश्र के बड़ी पियरी स्थित भारत प्रेस में जाकर ठहरा। बाबू सम्पूर्णानन्द जी ज्ञान मडल से प्रकाशित होने वाली मासिक पत्रिका "मर्यादा" के सम्पादक थे। वे जब जेल में थे तब उसके स्थानापन्न सपादक मुंशी प्रेमचन्द्र जी हुए। गुप्त जी से मैं उनके निवास स्थान पर मिला उन दिनों दैनिक पत्र 'आज' के प्रधान सम्पादक बाबू श्री प्रकाश जी थे। प्रायः मैं उन्हीं के साथ कार्य करता था। बाबू सम्पूर्णानन्द जी का अपार स्नेह था।

काम तो कोई विशेष था नहीं, मैं घन्टों 'मर्यादा' कार्यालय में बाबू सम्पूर्णानन्द जी के साथ बैठा साहित्यिक, धार्मिक तथा

राजनैतिक विषयों पर वार्तालाप किया करता था। बाबूजी क
बात चीत करने का व्यसन था। उन दिनों हिन्दु संगठन प
बाबू भगवान्दासजी ने कुछ लिखा था। बाबूजी ने उसका विस्तृ
उत्तर दिया था। बाबू सम्पूर्णानन्द उन दिनों हिन्दु सभा के स्थान
सभापति थे। उन दिनों हिन्दु सभा और कांग्रेस में कोई विरोध
नहीं था। मैं कार्यालय में भी बाबूजी से सत्संग करता और रात्रि
में उनके जालपा देवी स्थित घर पर भी नित्य जाता। एक दिन
भी नहीं जाता तो दूसरे दिन प्रश्नों की बौछार होती, कल क्यों
नहीं आये ? ऐसा क्या काम लग गया था ? इत्यादि-इत्यादि।
काशी में कहना चाहिये, बाबू सम्पूर्णानन्द जी के घर में ही
मेरी बैठक थी। उनके दोनों बच्चे सच्चिदानन्द और सर्वदानन्द
वे भी मुझसे अत्यन्त स्नेह रखते। सच्चिदानन्द बहुत सुन्दर
तथा होनहार बालक था, वह प्रायः मेरे पास भारत प्रेस में
आया करता था, किन्तु उसकी बहुत ही अल्पावस्था में अकाल
मृत्यु हो गयी इससे बाबूजी को बहुत धक्का लगा। उनके पूरे
परिवार से मेरी आत्मीयता थी। मैं एक प्रकार से उनके घर का
सदस्य ही था। वे तीन भाई थे। बड़े सम्पूर्णानन्द उनसे छोटे
अन्नपूर्णानन्द और सबसे छोटे परिपूर्णानद। वे कोरे साहित्यिक
या राजनैतिक व्यक्ति ही नहीं थे। उनमें आध्यात्मिकता भी थी।
वे सतमत के अनुयायी थे और सुरति शब्दयोग के अभ्यासी थे।

एक दिन मुझसे बोले—"चलिये मैं आपको अपने गुरुजी
के दर्शन कराऊँ।" मैं उनके साथ-साथ एक छोटी-सी गली में
साधारण से घर में गया। वहाँ एक साधारण-सी शैया पर मैले
कुचैले वस्त्र ओढ़े एक वृद्ध पुरुष बैठे थे। जाकर इन्होंने उन्हें
प्रणाम किया। ये इनके नानाजी थे। उन्होंने इनका प्यार का
नाम बड़का या बबुआ कहकर इन्हें सम्बोधन किया तब उन्होंने

मेरा परिचय पूछा। इन्होंने बताया ये ब्रह्मचारी जी हैं, और भी मेरी प्रशसा में कुछ शब्द कहे। उन्होंने हाथ जोड दिये। इनके तुमने दर्शन अच्छे कराये।

उन दिनों प्रतीत होता था, इनके नानाजी अकेले ही रहते थे। उनका नाम श्री रामेश्वर दयाल जी था। इन्होंने बाबा रामलाल जी से योग की शिक्षा प्राप्त की थी। बाबा रामलाल जी रामनगर में काशी नरेश के दुर्ग क पृष्ठ भाग मे एक टीले पर रहते थे। हमने उनके दर्शन तो किये नहीं। इनके नानाजी श्री रामेश्वर दयाल जी भी उस समय ७०-८० वर्ष के रहे होंगे। बाबूजी की उनमें अनन्य निष्ठा थी। मेरे ऊपर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पडा। किन्तु बाबू सम्पूर्णानदजी की सहृदयता से मैं प्रभावित था।

मैं मर्यादा कार्यालय में बेठा रहता। तभी एक गोरे से नव युवक आते और 'मर्यादा' के लिये कहानी दे जाते। मैंने बाबूजी से पूछा—"यह युवक कौन है ?"

उन्होंने कहा—"इसका नाम लोचन प्रसाद 'उग्र' है, कहानी अच्छी लिखता है।"

मैंने कहा—"आप बिना ही पढे इनकी कृतियों को 'मर्यादा' के लिये स्वीकृत कर लेते हो ?"

उन दिनों मासिक पत्रों में 'मर्यादा' की प्रतिष्ठा थी। साहित्य क्षेत्र में उसका सम्मान था। वे हॅसकर बोले—"अपने लोगों के लेख पढकर स्वीकृत नहीं किये जाते। उनसे तो यही आशा होती हे उनके लेख अच्छे ही होंगे आप भी कोई लेख दीजिये। मैं 'मर्यादा' में छापूँगा।"

अब मेरी इच्छा हुई, कि मैं 'मर्यादा' के लिये एक अच्छा लेख लिखूँ। किन्तु मैंने लिखा और बाबूजी ने उसे पसन्द न

किया, तो मुझे बहुत बुरा लगेगा। अतः मैंने एक लेख लिखा 'पाणिनीय व्याकरण और उसके कर्ता' उसमें इधर-उधर से पुस्तकें लाकर दो चार अँगरेज लेखकों की पुस्तकों में से भी प्रमाण दिये। लेख तयार होने पर मैंने किसी उपनाम से उस लेख को सम्पादक 'मर्यादा' के नाम से डाक से भेजा। कार्यालय में तो मैं वैठा ही रहता था। डाक वे मेरे सामने ही देखते थे। मेरा भी लेख आया उन्होंने उसे खोलकर देखा और रख दिया। दूसरे दिन उनकी मेज पर मेरा लेख रखा था। मैंने उसे उठाकर देखा और पूछा—"बाबूजी! यह लेख कैसा है ?"

वे बोले—"कोई नवीन ही लेखक प्रतीत होते हैं। इधर-उधर से पढ पढाकर लिख दिया है।"

मैंने पूछा—"इसे छापेंगे या नहीं ?"

वे बोले—"अभी इसे रखे लेता हूँ। किसी अक में कम सामग्री होगी, तो इसे ही छाप दूँगा।"

मैं समझ गया। मेरा लेख इन्हें विशेष रुचिकर नहीं लगा। यदि मैं कह देता कि यह लेख मेरा ही है, तो वे निश्चय ही उसे उसी अक मे छाप देते। किन्तु ऐसा कहना मैंने सर्वथा अनुचित समझा। उन दिनों भारत धर्म महामडल से एक बहुत प्राचीन मासिक पत्रिका 'निगमागम चन्द्रिका' निकलती थी। वैसे साहित्य क्षेत्र मे तो उसका कोई विशेष सम्मान नहीं था, किन्तु सनातन धर्म की वह अति प्राचीन पत्रिका थी, उसके सम्पादक उन दिनों प० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर थे। मैंने वह अपना लेख उसमें भेज दिया। उन्होने उसे सहर्ष कई अकों में छापा।

कुछ काल के पश्चात् ज्ञान मण्डल मे छटाई हुई। उसमें मेरी भी सेवा समाप्त कर दी गयी। अब मैं चाहता था, कहीं दो तीन घण्टे कार्य करके शेष समय भजन पूजन आदि में बिताऊँ।

किसी भी संस्था का सदस्य न बनने की तथा नौकरी न करने की मैंने प्रतिज्ञा पहिले ही कर ली थी, जन्मजात मेरा स्वभाव ही ऐसा था, कि मैं किसी के शासन मे रहकर कार्य नहीं कर सकता। इस स्वभाव के कारण मुझे बड़ी-बड़ी असुविधायें उठानी पड़ीं।

एक दिन मैं घूमता-घामता भारत धर्म महामण्डल मे चला गया। तब तक मैं महामण्डल के सम्बन्ध मे कुछ भी नहीं जानता था। यही जानता था, कि यह एक धार्मिक संस्था है। इसके संचालक संस्थापक स्वामी ज्ञानानन्दजी के सम्बन्ध में मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था। मैंने श्रीदुगवेकर शास्त्रीजी से कहा—"यदि आप दो तीन घण्टे का कोई काम मुझे दे दें, तो मैं यहाँ काम करने आ जाया करूँ।"

उन्होंने बड़ी प्रसन्नता के साथ मुझसे कहा—"निगमागम चन्द्रिका" में एक उपसपादक की आवश्यकता है आप आ जायँ।" मैं चेतगज में मिश्रजी के पुराने मकान मे अकेला रहता था। काम करने जगत्गंज महामण्डल में आ जाता। निगमागम चन्द्रिका ३२ पृष्ठ की एक छोटी-सी पत्रिका थी। उसका सम्पादन एक दिन में हो जाता था। प्रूफ देखने का काम भी कम ही था। मैं प्रयाग आइस फेक्टरी मे भाई बाबूलालजी के यहाँ बैठा रहता। "निगमागम चन्द्रिका" का समस्त कार्य तो मैं ही करता, किन्तु सम्पादक के स्थान मे नाम पं० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर का ही रहता।"

तभी 'भारत धर्म महामण्डल की ओर से भारतधर्म लिमिटेड कम्पनी" बनी उसके दो प्रमुख पत्र अँगरेजी में दैनिक 'महाशक्ति' और हिन्दी मे साप्ताहिक "भारत धर्म" निकले। प० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर तो "भारत धर्म" के सम्पादक हो गये और मैं

"निगमागम चन्द्रिका" का प्रधान सम्पादक हो गया। इससे मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। अब तक "निगमागम चन्द्रिका" का कभी विशेषाङ्क नहीं निकला था। सर्वप्रथम सोलह फरमें का मैंने एक उसका विशेषांक निकाला। जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई। उन दिनों मलकानों की शुद्धि का आन्दोलन चल रहा था। मथुरा जनपद में जो मुसलमान मलकाने थे, उनके आचार विचार रीति रिवाज नाम सब हिन्दुओं के से थे, किन्तु उन्हें मुसलमान कहा जाता था। उन्हें फिर से हिन्दु समाज में लाया गया। उस विषय का सचित्र विवरण उस विशेषाङ्क में प्रधान रूप से दिया गया था। उन दिनों वृन्दावन से यमुनाजी दूर चली गयीं थीं। यमुनाजी को पुनः वृन्दावन के घाटों पर लाने को एक "यमुना नियतृ" सभा बनी थी। उसका आन्दोलन "निगमागम चन्द्रिका" के द्वारा होता था। तब तक शंकराचार्यजी के चार मठों में ज्योतिर्मठ कहाँ है इसका किसी को पता नहीं था। जोशीमठ में नर्मदानन्द ब्रह्मचारी नाम के एक बहुत ही व्यवहार कुशल साधु थे। उन्होंने बताया जोशीमठ ही ज्योतिर्मठ है, उसके लिये कुछ भूमि भी ली गयी, देवीजी की एक मूर्ति भी जयपुर से उन्होंने बनवाकर मँगवायी। स्वामी ज्ञानानन्दजी उस पीठ में अपने शिष्य स्वामी दयानन्दजी को चौथा शंकराचार्य बनाना चाहते थे। किन्तु स्वामी दयानन्दजी ने वहाँ जाना स्वीकार नहीं किया। अतः वह बात ज्यों की त्यों ही रह गयी। अतः ज्योतिर्मठ स्थापना का भी आन्दोलन महामण्डल की ओर से होता था। कुछ दिनों तो मैं पं० शिवविनायक मिश्रजी के चेतगंज वाले पुराने खाली घर में रहा। फिर पिशाच मोचन के समीप बगीचा में रहा। तदनन्तर औरंगाबाद के एक कोई पुराने रईस थे। उनका औरंगाबाद के बाहर एक तालाब के किनारे बगीचा था। उसमें एक भव्य कोठी

थी। जब उनके वैभव के दिन थे तब वह कोठी उनके आमोद प्रमोद का स्थल था। वहाँ सगीत नृत्य आदि होते थे। अब उनकी आर्थिक दशा बिगड गयी थी, अतः वह कोठी उन्होंने हमें रहने को दे दी। कुछ मासिक किराया वे चुपके से हम से ले लेते थे। वह स्थान हमारे आश्रम के सर्वथा अनुकूल था। विस्तृत बाग था, कुँआ था। भव्य एकान्त में कोठी थी। आस-पास हरे लहलहाते खेत थे। कोठी बहुत ऊँचे पर थी। नीचे उसके एक कच्ची सडक थी। पास ही काशीविद्यापीठ थी। काशीविद्यापीठ के काशी वासी जितने छात्र तथा अध्यापक थे, सब हमारी कोठी के ही नीचे से दोनों समय निकला करते थे। बाबू सम्पूर्णानन्दजी पं० गोपालजी शास्त्री, दर्शनकेशरी ये नवीन तथा प्राचीन दर्शनो के अध्यापक थे। दोनों का मुझ पर अत्यन्त स्नेह था। प० अलगू रायजी शास्त्री, श्री लालबहादुर शास्त्री, श्री त्रिभुवननारायण सिंह जी, श्री कमलापतिजी त्रिपाठी, श्रीकेसकरजी, श्री राजारामजी शास्त्री, श्री . आदि-आदि जो उस समय काशी विद्यापीठ के छात्र थे, वे नित्य ही वहीं से निकलते। इन सबसे मेरी आत्मीयता थी। बाबू सम्पूर्णानन्दजी का आग्रह था आप पाश्चात्य दर्शन सुनने आया करें। मैं नित्य तो नहीं जब अवकाश होता, तब उनकी कक्षा में पाश्चात्य दर्शन सुनने जाता था। बाबू भगवान् दासजी उन दिनों वहाँ के कुलपति थे, वे भी दर्शन पढाते थे, कभी-कभी उनकी कक्षा मे भी मैं जाता था। उन दिनों काशी विद्यापीठ का स्वरूप ही दूसरा था। प्राचीनता के उपासक विद्यापीठ के संस्थापक बाबू शिवप्रसादजी गुप्त की इच्छा थी, कि यहाँ से विशुद्ध भारतीय संस्कृति सम्पन्न छात्र निकलकर देश विदेशों में हिन्दु धर्म का प्रचार प्रसार करें। अतः उन्होंने दो कठोर नियम बना दिये थे। एक तो विद्यापीठ कभी राजकीय

न ले और यहाँ के सभी विषय हिन्दी में पढ़ाये जायँ। अँगरेजी का इसमें प्रवेश भी न हो। देश के चुने हुए अध्यापक उसमें रखे गये थे। बाबू नरेन्द्रदेवजी, केशकरजी, धर्मवीरजी, पं० सत्यनारायणजी उपाध्याय, सेठ दामोदर स्वरूप ऐसे अनेक विचारशील विद्वान् वहाँ अध्यापक थे, विद्यार्थी भी वहाँ से निकले जो देश के प्रधान मन्त्री तक हुए, किन्तु गुप्तजी की जो इच्छा थी, उसकी पूर्ति नहीं हुई। राजनैतिक नेता तो अवश्य निकले। धार्मिक व्यक्ति कोई नहीं निकला। अब तो विद्यापीठ अन्य विश्व विद्यालयों की ही भाँति सरकारी सहायता प्राप्त एक संस्था बन गयी है। उस समय उसमें से महान् क्रान्तिकारी, देशभक्त युवक निकले थे।

महान् क्रातिकारी पं० चन्द्रशेखरजी आजाद उन दिनों तेरह चौदह वर्ष के छोटे-से बालक ही थे। दूर के नाते से वे पं० शिवविनायक मिश्रजी के भतीजे लगते थे। लघुकौमुदी की पुस्तक बगल में दबाये साधारण संस्कृत के विद्यार्थियों की भाँति घूमा करते थे। कभी-कभी भारत प्रेस में भी आते, मुझसे बड़ा स्नेह रखते। उनकी उस समय की मूर्ति ही मेरे हृदय में अंकित है। दुबला पतला शरीर, मुख पर चेचक के दाग, बहुत ही सीदे-सादे आते मेरे पास डरते-डरते बैठ जाते। पीछे तो सुना वे बहुत हृष्ट-पुष्ट लम्बे तडंगे हो गये थे। वर्षों प्रयाग में आकर रहे, प्रयाग में ही वे पुलिस की गोली से मारे गये। स्वर्गीय पं० रामकृष्ण शास्त्री बताते थे कि वे बहुधा संकीर्तन भवन झूसी में आते। कथा में बैठकर चले जाते। उन दिनों मैं मौन रहता था। किसी से बोलता चालता नहीं था। कौन आया कौन चला गया, मैं किसी की ओर देखता भी नहीं था। सुनता था काशी के मेरे सभी क्रान्तिकारी झूसी आते और यहाँ ठहरते थे। किन्तु कोई मुझसे प्रत्यक्ष मिलता

नहीं था। काशी में मेरा स्थान घोर एकान्त मे था, वहाँ प्रायः काशी के सभी क्रान्तिकारी मेरे पास आते। उनसे मेरी अत्यन्त सहानुभूति रहती। परन्तु मैं कभी क्रान्तिकारियों के दल मे सम्मिलित नहीं हुआ और न कभी मैंने कोई अस्त्र शस्त्र ही छूया। यहाँ भूसी मे भी मैं हसतीर्थ में घोर एकान्त मे बट के वृक्ष के नीचे रहता था। काशी वाले सभी क्रान्तिकारी यहीं आकर रहते होंगे। काकौरी स्टेशन पर जो सरकारी कोष लूटा गया, सुनते हैं, उसे लूटने भी लोग यहीं भूसी से गये थे। तभी तो सरकार का गुप्तचर विभाग मेरे पीछे पड गया था। उसे सन्देह हो गया था, कि क्रातिकारियों का यही नेता है। यह एकान्त मे मौन रह कर अपने को छिपाये बैठा रहता है। सब क्रान्तिकारी इसी के आदेश से डाका डालने तथा अधिकारियों को मारने जाते हैं। इसीलिये एक गुप्तचर विभाग का अधिकारी मेरे पास रहने लगा था, और मेरी गति विधियो को देखता रहता था। उन दिनों अँगरेजी राज्य के अन्तर्गत पहिले ही पहिल विधान सभाओं के चुनाव हुए थे। बाबू सम्पूर्णानन्दजी विधायक बने थे। मैंने बाबू सम्पूर्णानन्द को लिखा कि मैं यहाँ एकान्त में अनुष्ठान करता हूँ, गुप्तचर विभाग के अधिकारी मेरे कार्य मे विघ्न डालते हैं।

उन्होंने विधान सभा मे इस विषय का प्रश्न किया। गुप्तचर विभाग मे बडी खल बली मची। वह अधिकारी दौडा दौडा मेरे पास आया—"महाराज! विधान सभा में ऐसा प्रश्न पूछा गया है। मैंने आपके किस काम म विघ्न डाला ?"

अगरेजी शासन में यही दृढता थी कि वे प्रत्येक बात को सुनते, उसका अन्वेषण करते। वास्तव में गुप्तचर विभाग का यह भ्रम ही था मैंने सक्रिय रूप में कभी भी [illegible]

भाग नहीं लिया। मेरी उनके साथ हार्दिक सहानुभूति अवश्य थी। उनमें से बहुतों को फाँसी हो गयी, बहुत से मार डाले गये, बहुत से आर्थिक कष्टों से तड़प-तडप कर मर गये। देश सेवा का यही तो पुरस्कार होता है। सब साथी परलोक प्रयाण कर गये। सब ऐसे देश मे चले गये जहाँ से कोई लौटकर नहीं आता है। अब उनकी हृदय मे हूक पैदा करने वाली मधुर-मधुर स्मृतियाँ ही शेष रह गयी हैं। जिन्हे लिख-लिखकर—सफेद कागदों को काला कर करके मैं कालक्षेप कर रहा हूँ। बीती-बातों को स्मरण करके नेत्रों मे से दो अश्रु बहाकर अपने पुरानी आँखो को धो रहा हूँ। वे दिन लौटकर थोड़े ही आवेंगे ? वे सब साथी अब आकर प्रेम में पगी बातें थोड़े ही करेंगे। अतः आज इस संस्मरण को यहीं तक रहने दो। अगले संस्मरण मे काशी से प्रस्थान कैसे किया, इसे पाठक पढ़ सकेंगे।

छप्पय

काशी बसि का कर्यो ? भक्ति कीन्ही नहिँ शङ्कर।
दरशन कीये नही अन्नपूर्णा माँ मन्दिर॥
यात्रा अन्तर ग्रही न कीन्हीं नित्य नियम तैं।
मिलि भक्तनि सँग करी पञ्चकोशी न प्रेम तैं॥
न्हाये नहिँ मणिकर्णिका, कर्यो न मन्त्र विचार है।
दिल्ली बसि बारह बारस, केवल झोंक्यो भाड़ है॥

याज्ञवल्क्य और कहोल का शास्त्रार्थ

[२३३]

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेति··· ············।*

(बृ०उ ३ अ० ५ ब्रा १......म०)

छप्पय

पुनि कहोल मुनि आइ कह्यो–सर्वन्तर आतमा।
साकछात अपरोक्ष ब्रह्म जो है सर्वातमा॥
व्याख्या ताकी करो? यही सर्वान्तर आतमा।
सर्वान्तर वह कौन? मृत्यु तैं पर परमात्मा॥
क्षुधा, पिपासा, वृद्धता, शोक, मोह मय तैं परे।
पुत्र, वित्त लोकैषणा, पृथक होइ भिक्षा करे॥

एक आदर्श होता है। वैसे आदर्श दर्पण को कहते हैं, जिसमें जैसे का तैसा दीख जाय। हमारा एक आदर्श होता है। उद्देश्य गन्तव्य स्थान। वहाँ तक पहुँचने के प्रयत्न को साधन कहते हैं। साधनों द्वारा अपने गन्तव्य स्थान तक–आदर्श तक पहुँचा जा सकता है। शास्त्र साधन बताते हैं। जो साधन की शिक्षा दे,

---

*उषस्त मुनि के पश्चात कौषीतकेय गोत्रीय कहोल ने पूछा—याज्ञवल्क्यजी! साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर जो भी आत्मा है, उसकी मेरे प्रति तुम व्याख्या करो।'

हमारा शासन करे वही शास्त्र है। अर्थात् जो हमें अपने अन्तिम लक्ष्य तक–मोक्ष तक– पहुँचा दे वही शास्त्र है। जैसे आयुर्वेद शास्त्र है वह कहता है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल कारण है, आरोग्य। अर्थात् आरोग्य साधन द्वारा तुम मोक्ष को प्राप्त कर सकते हो। योग वाले कहते हैं—योग साधन द्वारा तुम अपने स्वरूप को प्राप्त कर सकोगे। आस्तिक शास्त्रों का एकमात्र उद्देश्य परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करना है, जहाँ ब्रह्म, परब्रह्म, परमात्मा, भगवान् आदि परमेश्वर सम्बन्धी शब्द आते हैं, उनका अर्थ होता है एक आदर्श व्यक्तित्व जो जरा, मृत्यु, शोक, मोह, दुःख आदि समस्त दोषों से रहित है। असख्य गुण गणों की खान परमादर्श महापुरुष परमात्मा वे इस ससार के मूल कारण हैं। ससार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जिनके ही द्वारा होते हैं, वे परावर हैं। अर्थात् उन्हीं से ब्रह्मादि पर देवता तथा मनुष्यादि अपर जीव उत्पन्न होते हैं। उन्हीं के द्वारा समस्त चराचर जीव वृद्धि को प्राप्त होते हैं और अन्त मे सभी उन्हीं में विलीन हो जाते हैं। जीव का परम पुरुपार्थ यही है कि उन्हीं परब्रह्म परमात्मा को जानना चाहिये, उन्हीं की जिज्ञासा करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उपरत मुनि महामुनि याज्ञवल्क्य जी से शास्त्रार्थ करके चुप हो गये, तब कुषीतक ऋषि के पुत्र कौषीतकेय कहोल नामक ऋषि शास्त्रार्थ के लिये सम्मुख आये। उन्होंने कहा—"याज्ञवल्क्य! हम भी तुमसे कुछ पूछना चाहते हैं। पूछें?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"पूछिये, क्या पूछते हैं।"

कहोल मुनि ने कहा—"तुमने बताया कि ब्रह्म साक्षात् अप रोक्ष है और सर्वान्तर आत्मा है। तो वह सर्वान्तर आत्मा कैसा

है ? कहाँ रहता है ? क्या करता है ? उसकी समुचित रूप से मेरे प्रति व्याख्या कीजिये।"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"जो सदा समीप रहता है, उसका परिचय नहीं पूछा जाता। वह परब्रह्म तो सर्वान्तर आत्मा है, वह तो तुम्हारे भीतर बैठा हुआ है।"

कहोल ने पूछा—"भीतर बैठा हुआ वह क्या खाता है, क्या पीता है, कब पैदा हुआ है, कब बूढ़ा होगा, कब मृत्यु को प्राप्त होगा ? उसे किससे मोह है, किसका वह शोक करता है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"वह कभी जन्म नहीं लेता, अजन्मा है, वह कभी मरता नहीं, सदा अमर है। उसे कभी भूख प्यास नहीं लगती। वह क्षुधा-पिपासा से सर्वथा रहित है। वह कभी वृद्ध नहीं होता, सदा सर्वदा एक रस रहता है। शोक मोह उसके पास कभी फटकने भी नहीं पाते।"

कहोल ने कहा—"संसार के समस्त कार्य कामनाओं पर–इच्छाओं पर–निर्भर हैं। सब किसी-न किसी कामना से कर्म करते हैं। उस परब्रह्म को किसकी कामना है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखिये, ससार मे तीन ही प्रकार की कामनायें होती हैं। समस्त कामनायें इसी के अन्तर्गत आ जाती हैं। एक तो एक से बहुत होने की कामना। इसे पुत्रैषणा कहते हैं। पहिली कामना तो उसे यह होती है, कि मैं एक से दो हो जाऊँ। मिथुन बन जाऊँ, मेरे स्त्री हो जाय। जिसके उदर मे पुनः प्रवेश करके मैं एक से अनेक हो जाऊँ। क्योंकि पुरुष पत्नी के उदर मे वीर्यरूप से स्वय ही प्रवेश करके उत्पन्न होता है उसमे जायमान होता है। इसीलिये पुत्रवती पत्नी का जाया नाम होता है।"

दूसरी इच्छा उसकी यह होती है, कि मेरे धन हो जाय, तो

उस धन से नाना प्रकार के कर्म करूँ। भाँति-भाँति के भोगों को भोगूँ। इस इच्छा को वित्तैषणा कहते हैं। मनुष्य जो भी लौकिक व्यापार करता है, धन के ही निमित्त करता है, धन आने पर ही विविध कर्मों में प्रवृत्त होता है।

तीसरी उसकी इच्छा होती है, मैं कीर्ति वाले कर्म करूँ। इस लोक में जितने दिनों तक मेरी कीर्ति रहेगी उतने ही दिनों तक मुझे स्वर्गादि पुण्य लोकों में वास करने का सुअवसर प्राप्त हो सकेगा क्योंकि पुण्य कर्मों द्वारा जब तक मनुष्य की इस लोक में कीर्ति रहती है, तभी तक उसे पुण्य लोकों के सुख भोगने को मिलते हैं, इस इच्छा को लोकैषणा कहते हैं। ये इच्छायें ही जीव को संसार बन्धन में बाँधती हैं। ये इच्छायें ही प्राणियों को मोक्षमार्ग से रोकने वाली हैं। जो ब्राह्मण मोक्षमार्ग के अनुगामी हैं। वे इस लोक तथा परलोक के भोगों के इच्छुक नहीं है, अपितु परब्रह्म परमात्मा को ही प्राप्त करना चाहते हैं। वे उस परमात्मा के महत्त्व को जानकर इन तीनों ऐषणाओं से विरत होकर–पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा को त्यागकर–सर्वस्व का परित्याग करके भिक्षुक बन जाते हैं, वे भिक्षा को ही अपने शरीर निर्वाह का एकमात्र साधन बनाकर स्वच्छन्द विचरण करते हैं। जब भगवान् के उपासकों को ही कोई कामना नहीं होती, तो भगवान् को तो कामना होनी ही क्या है ?"

कहोल ने पूछा –"पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा इनमें भेद क्या है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"भेद कुछ भी नहीं। एषणा तो एक ही है। कामना एक ही होती है साध्य और साधनेच्छा के कारण ही तीन भेद कर दिये हैं। कामना एक ही है सुख की कामना। सुख दो प्रकार का होता है। इस लोक का सुख–स्त्री

पुत्रादि धन का सुख। परलोक का सुख–नन्दन कानन, अप्सरायें विमान भ्रमण, अमृत पानादि। साधारण सुख और दिव्य सुख। स्त्री की कामना इसलिये है कि उसके द्वारा शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श सम्बन्धी सभी लौकिक सुख प्राप्त होते हैं और उसमें प्रवेश करके एक से बहुत हो जाते हैं। सन्तानक्रम टूटने नहीं पाता। धन की कामना स्त्री [illegible] के लिये तथा पुण्य कार्य के लिये होती है कि [illegible] करेंगे, तो हमें स्वर्ग में दिव्य सुख भोगने को मिलेंगे [illegible] की पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है और जो [illegible] लोकैषणा है। ये सब एषणायें एक ही हैं। साध्य [illegible] ये दोनों एषणायें होती हैं। अतः ब्राह्मण को [illegible] पाण्डित्य को प्राप्त करके बाल्यभाव को प्राप्त हो, अर्थात् [illegible] निरभिमान सरल बालक की भाँति रहे। अथवा [illegible] में रहने की इच्छा करे। मुनि भाव को [illegible]।'

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"यह कहा नहीं जा सकता वह किस प्रकार ब्राह्मण होता है, वह जिस प्रकार भी ब्राह्मण हो, ब्राह्मण तो वही है जो पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से दूर रहकर आत्मज्ञान का–पाण्डित्य का–भलीभाँति सम्पादन करके बाल्यभाव मे स्थित रहे। मुनिभाव और पाण्डित्य को प्राप्त करके शोक मोह से रहित होकर अपने को कृतार्थ मानकर निर्द्वन्द्व हो जाय। ऐसा ही ब्राह्मण कृतकृत्य माना जाता है। इससे अतिरिक्त जितने प्राणी हैं सब आर्त हैं–दुखी हैं–अन्त वन्त हैं–नाशवान् हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! महामुनि याज्ञवल्क्यजी के इस उत्तर मे कौषीतकेय कहोल निरुत्तर हो गये। अब उनके पास पूछने को कोई अन्य प्रश्न रहा ही नहीं अतः वे चुप हो गये। उनके चुप हो जाने के अनन्तर जेसे वाचक्नवी गार्गी नाम की विदुषी शास्त्रार्थ के लिये उनके सम्मुख आई और जैसे याज्ञवल्क्य तथा गार्गी मे शास्त्रार्थ हुआ, इस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

पुत्र, वित्त अरु लोक ऐषणा साध्य साधना।
दोउ एकहि होइ ब्रह्मविद करै कलपना॥
करि पांडित्यहिँ प्राप्त बाल्य भावहिँ रमि जावै।
ब्राह्मण मुनि बनि होइ धन्य पर-पदवी पावै॥
कैसे हू पदवी परम, पावैं विप्र कृतार्थ है।
शेष सकल जन दुखी है, नाशवान अरु व्यर्थ है॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरे अध्याय मे
पाँचवाँ कहोल ब्राह्मण समाप्त

—:०:—

याज्ञवल्क्य और गार्गी का शास्त्रार्थ

[२३४]

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिद९ सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति ॥*

(वृ० उ० ३ अ० ६ ब्रा० १ मन्त्राश)

छप्पय

चुप कहोल जब भये फेरि तहँ गार्गी आई।
बोली—जल में ओत प्रोत कृत जलहु समाई॥
कह्यो वायु में रहे, वायु कामें? सो नभ में।
नभ कामें? गन्धर्व लोक में सो अदितहु में॥
रहे कहाँ आदित्य है, ओत प्रोत वह चन्द्र में।
चन्द्र कहाँ? नक्षत्र में, ओत प्रोत सो कवन में?

संसार मे सभी पदार्थों की सीमा है। एकमात्र ब्रह्म ही निस्सीम है। ब्रह्म की कोई सीमा निर्धारित नहीं कर सकता। बल

---

* कहोल मुनि के चुप हो जाने पर याज्ञवल्क्य जी से शास्त्रार्थ करने वचक्नु ऋषि की पुत्री गार्गी वहां आई। उसने याज्ञवल्क्य जी से पूछा—"हे याज्ञवल्क्य! यह जो दृश्य सम्पूर्ण जगत है सब जल मे ओत प्रोत है, किन्तु यह जल किसमे ओत प्रोत है?"

को, विद्या को, धन की, यश की, कीर्ति की एक निश्चित सीमा है। धन कितना ? कुबेर की भाँति ? अब तुम पूछो कुबेर के धन से भी बड़ा किसका धन है ? तो परमात्मा के अतिरिक्त किसका नाम लेंगे। फिर पूछो—परमात्मा से भी बढ़कर धन किसका ? तो यह तो अति प्रश्न हुआ। एक ऐसी सीमा निर्धारित कर देना चाहिये कि जिसके आगे कोई प्रश्न ही न हो। हम आर्य सनातन वैदिक धर्मावलम्बियों ने वेद तथा परमात्मा को एक निश्चित सीमा मान रखा है। कोई भी आस्तिक वर्णाश्रमी तर्क के ऊपर तर्क करता चलेगा, किन्तु जहाँ कह देंगे ऐसा वेद का वचन है, तो वह चुप हो जायगा, क्योंकि वेद स्वतः प्रमाण है, उसके लिये अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार इसने इसको बनाया, इसने इसको बनाया, ऐसे क्रमबद्ध कहते चलो जहाँ जाकर कह दें, कि इसको ईश्वर ने बनाया, तो फिर यह प्रश्न नहीं किया जाता, कि ईश्वर को किसने बनाया। ईश्वर एक मर्यादा है, सीमा है, उसे कोई बनाता नहीं। वे सदा सर्वदा से अनादिकाल से बने बनाये हैं और अनन्तकाल तक बने रहेंगे। इसलिए आस्तिकों ने वेद और ईश्वर की अंतिम सीमा निर्धारित कर दी है। कुछ लोगों ने शून्य की सीमा निर्धारित की है। शून्य कोई वस्तु ही नहीं। उसके प्रति भक्तिभाव आदर सत्कार कैसे करें। इससे अच्छा तो यही है कि परमात्मा तथा वेद आदर की तो वस्तु हैं। इसी प्रकार प्रश्नों की भी एक सीमा है, जो सीमा का उल्लङ्घन करके प्रश्न करता है, उसका वह प्रश्न अति प्रश्न कहा जाता है। विद्वान् लोग अति प्रश्न का उत्तर नहीं देते। जो अति प्रश्न करता है, वह स्वतः परास्त समझा जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उपनिषदें इस दृश्य जगत् के द्वारा ही ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करने का उपदेश देती हैं। पृथ्वी से

लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी एक दूसरे में ओत प्रोत हैं। अतः ब्रह्मज्ञान के पूर्व इनका जानना आवश्यक है। इसीलिये परम विदुषी गार्गी ने महामुनि याज्ञवल्क्यजी से इसी सम्बन्ध के प्रश्न पूछे थे। कहोल मुनि के चुप हो जाने पर अब वचक्नु की पुत्री वाचक्नवी गार्गी शास्त्रार्थ के लिये सम्मुख आयी। उसने कहा—"याज्ञवल्क्यजी! मैं भी कुछ पूछूँ ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—'हाँ, अवश्य पूछिये।''

गार्गी ने कहा—"देखिये वस्त्र के ताने में और बाने में सूत्र-ही सूत्र है। अर्थात् वस्त्र ओत लम्बाई में भी सूत्र है और प्रोत चौडाई बाने में भी सूत्र है। अर्थात् वस्त्र सूत्र ततु–से ओत प्रोत है। वस्त्र में सूत्र के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार यह समस्त पार्थिव धातु समुदाय जल से ओत प्रोत है। यह पृथ्वी भी जल के ही ऊपर अवस्थित है। इसके चारों ओर जल-ही जल है। ऊपर जल, नीचे जल, दाये जल, बायें जल। चारों ओर जल-ही जल है। जैसे यह पार्थिव धातु समुदाय जल से ओत प्रोत है उसी प्रकार जल किससे ओत प्रोत है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"जैसे पृथ्वी जल में ओत प्रोत है, उसी प्रकार वायु में जल ओत प्रोत है। पृथ्वी में, जल में कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ वायु न भरी हो।"

इस पर पुनः गार्गी ने पूछा—"वायु किसमें ओत प्रोत है ?"

इसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"अन्तरिक्ष लोकों में अर्थात् आकाश में वायु ओत प्रोत है। आकाश में--अवकाश में--सर्वत्र वायु-ही-वायु है।"

गार्गी ने पूछा—"अन्तरिक्ष लोक किसमें ओत प्रोत है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"अन्तरिक्ष लोक गन्धर्व ... ओत प्रोत है।"

गार्गी ने पूछा—"गन्धर्व लोक किसमे ओत प्रोत है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"गन्धर्व लोक हे गार्गी! ... लोक मे ओत प्रोत है।"

इस पर पुनः गार्गी ने प्रश्न किया—"अच्छा, याज्ञवल्क्य जी! यह बताइये आदित्य लोक किसमें ओत प्रोत है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"हे गार्गी! आदित्य लोक चन्द्र लोक में ओत प्रोत है। क्योंकि आदित्य लोक से चन्द्र लोक परे है।"

इस पर गार्गी ने पूछा "यह बताइये याज्ञवल्क्यजी! चन्द्र लोक किसमे ओत प्रोत है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"चन्द्र लोक नक्षत्र लोकों में ओत प्रोत है, क्योंकि नक्षत्र लोक चन्द्रलोक से ऊँचे हैं।"

गार्गी ने पूछा—"अच्छा, नक्षत्र लोक किनमें ओत प्रोत हैं।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"नक्षत्र लोक देवलोकों में ओत प्रोत हैं, क्योंकि देवलोक नक्षत्र लोकों से भी ऊपर हैं।"

"फिर देवलोक किसमें ओत प्रोत है ? याज्ञवल्क्यजी!" ऐसा गार्गी ने पूछा।

"हे गार्गी! देवलोक इन्द्रलोक मे ओत प्रोत है।" ऐसा याज्ञवल्क्यजी ने उत्तर दिया।

हे याज्ञवल्क्य! इन्द्रलोक किस लोक मे ओत प्रोत है ?" ऐसा गार्गी ने पुनः पूछा।

"गार्गी! इन्द्रलोक प्रजापति लोकों में ओत प्रोत है।" ऐसा उत्तर महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने दिया।

"अच्छा, बताओ याज्ञवल्क्यजी ! प्रजापति लोक किसमें ओत प्रोत है ?" ऐसा गार्गी ने पूछा ?

याज्ञवल्क्यजी ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"हे गार्गी ! प्रजापतिलोक ब्रह्मलोक में ओत प्रोत हैं।

इस पर गार्गी ने पुनः पूछा—"तो याज्ञवल्क्यजी ! यह बताइये ब्रह्मलोक किसमें ओत प्रोत है ?"

इस पर हँसकर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"गार्गि ! कहीं अत भी करोगी, कि पूछती ही जाओगी। परात्परलोक तो ब्रह्मलोक है। सभी तो इसी में ओत प्रोत हैं। जिसमें समस्त विश्वब्रह्माड ओत प्रोत हैं, वह किसमें ओत प्रोत होगा। यह तो तुम्हारा अतिप्रश्न है। सीमा से बाहर का प्रश्न है। देखो, सीमा में रहो, मर्यादा का उल्लङ्घन मत करो। इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। मैं फिर कहता हूँ ब्रह्मलोक में आकर प्रश्नों की इति श्री हो गयी, तू अतिप्रश्न मत करे। यदि तू इससे आगे बढ़ेगी, अतिप्रश्न करेगी, तो तेरा मस्तक धड से पृथक् हो जायगा। अतः ऐसा कर जिससे तेरा मस्तक धड से गिरकर पृथक् न हो जाय। जो देव सबकी सीमा है जिसके विषय में अतिप्रश्न नहीं करना चाहिये। ऋषियों ने जिसकी मर्यादा बाँध दी है, उस मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये। तू मर्यादा का विचार न करके जिस देवता के विषय में प्रश्न न करना चाहिये उसके विषय में तू अति प्रश्न कर रही है। इसलिये मैं तुझसे कहता हूँ तू दुस्साहस न कर, प्रश्न की सीमा का अतिक्रमण न करके अतिप्रश्न के आग्रह का परित्याग कर दे। अतिप्रश्न करना छोड दे।"

सूतजी कहते हैं-"मुनियो ! जब महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने गार्गी से इस प्रकार धर्मयुक्त दृढता के स्वर में वचन कहे, तब वचक्नु

(२३५)

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानाः तस्याऽऽसीद् भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत कबन्ध आथर्वण इति ॥*

(बृ० उ० ३ अ० ७ ब्रा० १ ......म०)

छप्पय

उद्दालक जो अरुण तनय पुनि आगे आये ।
बोले—'गाथा एक कहूँ' तिनि वचन सुनाये ॥
काप्य पतञ्चल मद्रदेश तिहि निवसे घर हम ।
नारि तासु गन्धर्व गृहीता कबंध अथरवण ॥
सो पूछत—'द्विज पतञ्चल, अन्तरयामी सूत्र तुम ।
जानत हो ? तिनि ना करी, ताकूँ पूछें तुमहिँ हम ॥

सर्व शक्तिमान परमेश्वर संसार के अणु परमाणु में व्याप्त

---

* गार्गी के अनन्तर याज्ञवल्क्यजी से अरुण के पुत्र उद्दालक ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! पहिले हम मद्रदेश मे कपिगोत्रीय पतञ्चल के घर मे यज्ञ के विषय का अध्ययन करते हुए निवास करते थे । उनकी स्त्री पर किसी गन्धर्व का आवेश आता था । हमने उससे पूछा—'तू कौन है ? उसने कहा—"मैं आथर्वण कबन्ध हूँ ।"

अनेन—इति सूत्रम्) जब तक वस्त्र बनना आरम्भ नहीं होता, तब तक यह सूत कहाता है, जब यह ताने बाने में ओत प्रोत होकर बुन जाता है, तो उसकी वस्त्र संज्ञा हो जाती है। जब तक फूल या मुक्ता पृथक् रहते हैं और सूत पृथक् रहता है, तब तक दोनों के पृथक्-पृथक् नाम होते हैं। जब फूल या मनके सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं तो दोनों की मिलकर माला संज्ञा हो जाती है। माला का आधार सूत्र ही है। सूत्र को माला से पृथक् कर लो तो फूल तथा मनके बिखर जायँगे। माला संज्ञा नष्ट हो जायगी। आपका प्रश्न है जिस सूत्र में यह लोक, परलोक तथा समस्त भूत समुदाय, गुँथे हुए हैं वह सूत्र क्या है, तो मेरा उत्तर है, वह सूत्र वायु है। यह वायु आकाश के समान सर्वत्र व्यापक है। वायु द्वारा ही ये समस्त प्राणी ग्रथित हैं। उदाहरण के रूप में इस मनुष्य शरीर को ही ले लीजिये। इस शरीर में वात, पित्त, और कफ तीन ही प्रधान हैं। ये तीन सम रहते हैं यथा-क्रम रहते हैं, तब शरीर स्वस्थ रहता है। जब ये विषम हो जाते हैं शरीर अस्वस्थ हो जाता है। इनमें भी पित्त पंगु है। कफ भी पंगु है। ये चल नहीं सकते। स्वतः काम कर नहीं सकते। जैसे आकाश में घन हैं, वे स्वतः चल नहीं सकते। वायु जिधर उन्हें उड़ाकर ले जाती है, उधर ही वे चले जाते हैं। इसी प्रकार कफ तथा पित्त को वायु ही समस्त शरीर में घुमाती है। प्राण भी वायु रूप ही है। जब तक शरीर में प्राणवायु रहती है, तभी तक शरीर सुसंगठित बना रहता है। जब प्राण वायु निकल जाती है, तो शरीर फिर शरीर न रहकर शव बन जाता है। मृतक शरीर को मनुष्य कहते हैं इसके अंग विस्नस्त हो गये, विशीर्ण हो गये, बिखर गये, अस्त व्यस्त हो गये। क्योंकि जितने अंग हैं, अवयव हैं, वे सबके सब वायु रूप सूत्र के द्वारा

ही संग्रथित होते हैं। प्राण वायु ही शरीर के समस्त अंगों को सुसंगठित बनाये रखती है। जैसे शरीर के समस्त अङ्ग वायु द्वारा सुसंगठित हैं वैसे ही लोक परलोक तथा समस्त भूत वायु रूप सूत्र में गुँथे हुए हैं।"

यह सुनकर आरुणि उद्दालक ने कहा—"आपका कथन यथार्थ है। वायु ही वह सूत्र है। यह तो आपने यथातथ्य उत्तर दिया। अब कृपा करके मेरे दूसरे प्रश्न का भी उत्तर दीजिये। जो इस लोक, परलोक तथा समस्त भूत समुदाय को भीतर से नियमित करता है, उस अन्तर्यामी का वर्णन और कीजिये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब जैसे आरुणि उद्दालक के दूसरे प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्यजी अन्तर्यामी का वर्णन करेंगे, उस प्रसंग का मैं आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

लोक और परलोक भूत समुदाय ग्रथित जिहि।
कौन सूत्र तिहि कहो और अन्तर्यामीहु किहि॥
याज्ञवल्क्य सुनि कह्यो सूत्र अरु अन्तरयामी।
जानूँ हौं, सो कहो, आपु तो पंडित नामी॥
उद्दालक वह वायु है, सूत्र-ग्रथित जामें सबहिँ।
अन्तरयामी अरु कहो, गैयनि लै जाओ तबहिँ॥

याज्ञवल्क्य और आरुणि का शास्त्रार्थ (२)

[२३६]

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं य पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥*

(बृ० उ० ३ अ० ७ ब्रा० ३ मं०)

छप्पय

याज्ञवल्क्य पुनि कहें न जाने पृथिवी हू जिहि ।
भू वासी भू माहिँ भाम तन भू नियमन तिहि ॥
अन्तरयामी अमृत आतमा है सो तुमरो ।
यों ही जल अरु अगिनि अन्तरिक्ष हु है हमरो ॥
वायु, स्वरग, आदित्य में, दिशनि, चन्द्र, तारा रहे ।
आकाशहु तम, तेज में, अन्तरयामी अमृत है ॥

---

* अन्तर्यामी का निरूपण करते हुए याज्ञवल्क्य जी कह रहे हैं—"हे गौतम ! जो पृथ्वी पर रहने वाला होकर पृथ्वी के भीतर है, किंतु जिसे पृथ्वी जानती नहीं । वास्तव में वह पृथ्वी का शरीर है, जो पृथ्वी के भीतर रहकर उसका नियमन करता है, वही तुम्हारा अंतर्यामी अमृत आत्मा है ।'

हम लोग इन्द्रियों को देख नहीं सकते। वास्तव में जिन्हें हम आँख, नाक, रसना, कान, हाथ, पैरादि इन्द्रियाँ कहते हैं। वे इन्द्रियाँ न होकर इन्द्रियों के गोलक हैं। जैसे किसी की कमर में करवाल लटक रही है, हम उसे देखकर कहते हैं—"देखो, इसकी कमर में कैसी सुन्दर करवाल है।" वास्तव में जिसे हम करवाल कहते हैं, वह करवाल का वेस्टन है--खोल है--म्यान है। करवाल तो उसके भीतर छुपी है, वह वेस्टन से ढकी होने से दीखती नहीं। इसी प्रकार जिन्हें हम आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियाँ कहते हैं ये इन्द्रियों के गोलक हैं, इन्द्रियाँ उनके भीतर रहती हैं। सूक्ष्म होने से वे दिखाई नहीं देतीं। इन्द्रियों से परे उनके शब्द, रूप, रस तथा गन्धादि उनके विषय हैं। जिन्हें इन्द्रियार्थ या तन्मात्रायें कहते हैं। उन इन्द्रियार्थों से भी परे मन है। मन से परे बुद्धि है। बुद्धि से परे महानात्मा अर्थात् महत्तत्व है। महत्तत्व से परे अव्यक्त तत्व है। अव्यक्त से परे अमृत है। उस अमृत से परे कोई नहीं है। वह परात्पर है। वह सबकी पराकाष्ठा है परागति है। वह अमृत ही अन्तर्यामी है। अन्तर्यामी उसे क्यों कहते हैं ? इसलिये कि वह सबके अन्दर रहकर सबको उनके कार्यों में नियोजित करता है। (अन्तर्मध्ये यमयति स्व स्व कार्येषु-इन्द्रियादीनि नियोजयति= इति अन्तर्यामी) जो बाह्य तथा अन्तःकरणों को उनके कार्यों में भीतर रहकर लगाता रहता है उसे अन्तर्यामी कहते हैं। उसे ही सूत्रधार कह लीजिये। जैसे कठपुतली नचाने वाला भीतर छिपा हुआ बैठा रहता है, किन्तु सब कठपुतलियों के सूत्र उसके हाथ में रहते हैं। वह जिस कठपुतली को जैसा संकेत करता है उसके सूत्र को जैसे हिलाता है-कठपुतली वैसा नाच नाचने लगती है। जो अज्ञ दर्शक बाहर बैठे नाच देखते हैं, वे सब

समझते हैं, काठ की बनी कठपुतलियाँ ही नाच रही हैं। स्वयं वे नाचने वाली कठपुतलियाँ भी नहीं जानतीं हमें कौन नचा रहा है। विज्ञ पुरुष ही अनुमान से यह जानते हैं कि काठ की पुतलियों में नाचने की सामर्थ्य कहाँ है, इन्हें तो कोई भीतर बैठा हुआ--छिपा हुआ व्यक्ति सूत्र के आधार से नचा रहा है। यद्यपि वे विज्ञ पुरुष भी उसे प्रत्यक्ष देख नहीं रहे हैं, किन्तु अनुमान से उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। ऐसे ही ससार के समस्त भूत समुदाय को जो नियम में बाँधकर चला रहा है। सबको क्रमबद्ध नचा रहा है। वही अन्तर्यामी अमृत आत्मा है। वह परात् पर है। उससे परे कोई भी नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब आरुणि उद्दालक के सूत्र का उत्तर याज्ञवल्क्यजी ने दे दिया तब आरुणि ने कहा—"सूत्र के विषय में जो आपने बताया, वह तो ऐसा ही है। अब अन्तर्यामी के सम्बन्ध में और बताइये।"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"जो पृथ्वी में रहने वाला है वही अन्तर्यामी है।"

आरुणि—"पृथ्वी में तो सभी रहते हैं, क्या सभी अन्तर्यामी हैं।"

याज्ञ०—"नहीं, पृथ्वी में रहने वाला ही नहीं जो पृथ्वी के भीतर विद्यमान है।"

आरुणि—"पृथ्वी के भीतर तो उसकी अधिष्ठातृ देवी पृथ्वी बैठी है, क्या पृथ्वी देवता अन्तर्यामी है ?"

याज्ञ०—"नहीं, पृथ्वी देवता को तो यह स्थूल पृथ्वी जानती है, कि यह हमारी अधिष्ठातृ है, किन्तु पृथ्वी के अणु परमाणु में विद्यमान होने पर भी पृथ्वी जिसे नहीं जानती कि मेरे भीतर भी कोई देवता बैठा हुआ है। इतना होने पर भी जिसका शरीर

में, आकाश मे, तम मे, तथा तेज मे रहने वाला है। जो इन सब के भीतर विद्यमान है, जिसे ये सब जानते नहीं ये सब ही जिसके शरीर हैं। जो इन सब के भीतर रहकर इन सभी का नियमन किया करता है। जो पृथ्वी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्युलोक, आदित्य, दिशाओं चन्द्रमा तथा तारओं, आकाश, तम और ज्योति आदि सब को सदा सुव्यवस्थित रखता है। वही तुम्हारा हमारा समस्त संसार का अन्तरात्मा है, वही अन्तर्यामी है, वही परार्थ कार्यों को करने वाला–स्वकर्त्तव्य से रहित अन्तर्यामी है, उसी को अमृत--समस्त ससारी धर्मों से रहित--कहते हैं। तुमने जो अन्तर्यामी के सम्बन्ध में प्रश्न किया वह यही अन्तर्यामी हैं। समझ गये न ? यदि न समझे हो तो और बताऊँ ?"

आरुणि ने कहा—"बताइये।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"जो समस्त भूतों में, प्राण में, वाणी मे, नेत्र मे, श्रोत्र मे, मन में, तथा बुद्धि मे रहने वाला है। इन सबके भीतर बैठा रहता है, जिसे ये सब जानते भी नहीं। किन्तु ये ही सब उसके शरीर हैं। जो इन सबके भीतर रहकर इन सबका नियमन करता है, इन सबको सदा सर्वदा सुव्यवस्थित रखता है। वही हमारा तुम्हारा तथा समस्त संसार का अन्तरात्मा अन्तर्यामी है उसी को अमृत कहते हैं। समझ गये। या और समझाऊँ ?"

आरुणि—"हाँ और समझाइये।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"ये सब प्राणी किससे पैदा होते हैं ? वीर्य से पैदा होते हैं। वीर्य तो एक द्रव्य पदार्थ है, उसमें इतनी सामर्थ्य कहाँ जो चींटी जैसे छोटे जीव और हाथी जैसे बड़े जीव को पैदा कर दे। वीर्य तभी जीवों को पैदा कर सकता है

जब उसमें कोई अन्तर्यामी रह रहा हो। जो अन्तर्यामी उस वीर्य के अणु परमाणु मे इस प्रकार व्याप्त हो जिस प्रकार मिश्री के अणु परमाणु में मीठा व्याप्त रहता है इतना होने पर भी वीर्य इस बात से अनभिज्ञ ही बना रहता है, कि मेरे भीतर बैठकर कोई अन्तर्यामी मुझसे समस्त कार्यो को करा रहा है। वही मुझे पुरुष द्वारा स्त्री गर्भ मे पहुँचाता है, वही स्त्री के रज मे बैठकर मुझे उसमें मिलाता है वही दोनो को मिलाकर एक रात्रि मे कलल, पाँच रात्रि मे बुद्बुद्, दस दिन मे बरे सदृश, वही मास-पेशी, अडज जीवो मे अडज आदि रूप में परिणत करता है। वही एक मास मे हाथ सिर, दो मास मे पाँव, तीन मास मे नख, रोम, अस्थि, चर्म, स्त्री पुरुष के चिन्ह उत्पन्न करता है, वही चार मास मे मांस आदि सात धातुओ के रूप मे परिणत करता है, वही पाँचवें महीने मे शरीर का डॉच बनाकर भूख प्यास उत्पन्न करता है, वही छटे मास मे झिल्ली—जरा -से लिपटा कर दाहिनी कोख में घुमाता है। वही माता के खाये अन्न जल में बैठकर उस गर्भस्थ बालक की समस्त धातुओं को पुष्ट करता है। वही सातवें महीने मे उसे पूर्ण बनाकर बाहर निकलने को उत्साहित करता है। फिर वही दशवे महीने मे प्रसूत मारुति द्वारा उसे उदर से बाहर निकालता है। वीर्य के इतने रूप कैसे बन जाते हैं इसे स्वय वीर्य भी नहीं जानता। जिस अन्तर्यामी का शरीर ही वीर्य है। जो वीर्य के भीतर रहकर निरन्तर उसकी समस्त क्रियाओ का नियमन करता रहता है। वही हमारा तुम्हारा समस्त ससार का वीर्य मे भी रहने वाला अन्तरात्मा अन्तर्यामी है उसी को अमृत भी कहते हैं। समझ गये या और समझाऊँ ?'

आरुणि ने कहा—"फिर वह अन्तर्यामी दीखता क्यों नहीं ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखो, तुम बच्चों के जैसे प्रश्न मत करो। जो सबको देखने की शक्ति प्रदान करता है, उसे तुम किसके द्वारा देखोगे ? वह स्वयं दिखायी नहीं देता। किन्तु वही सबको देखता है, सबको देखने की शक्ति प्रदान करता है। उसका शब्द इन संसारी श्रवणों द्वारा सुनायी नहीं देता, किन्तु वह सबके शब्दों को सतत सुनता रहता है। वह मन के द्वारा मनन का विषय नहीं है, किन्तु सबका मनन वह स्वयं करता है। बुद्धि द्वारा विशेषतया ज्ञात न होने वाला होने पर भी वह विशेष रूप से सबको जानता रहता है। वही तुम्हारा हमारा तथा सम्पूर्ण संसार का आत्मा अन्तर्यामी है। वही अमृत है। उस अमृत के अतिरिक्त सब दुःखमय है। आर्त है नाशवान् है। वही अन्तर्यामी है। उस आथर्वण कबन्ध गन्धर्व ने इसके अतिरिक्त यदि अन्तर्यामी की व्याख्या की हो तो मुझे बताइये ?"

इस पर आरुणि उद्दालक ने कहा—"महानुभाव याज्ञवल्क्य जी ! आप सूत्र को भी जानते हैं और अन्तर्यामी को भी जानते हैं। इसके अतिरिक्त अब मुझे आपसे कुछ भी नहीं पूछना है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अपने दोनों प्रश्नों का यथार्थ उत्तर पा जाने के पश्चात् अरुण के पुत्र उद्दालक मुनि चुप हो गये। वे प्रश्न करने से उपरत हो गये। अब उनके चुप हो जाने के अनन्तर जैसे फिर से परम विदुषी वचक्नु महर्षि की पुत्री वाचक्नवी गार्गी याज्ञवल्क्य जी से प्रश्न पूछेगी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप सब इस परम पावन पुण्य आख्यान को दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

सब भूतनि में प्राण, वाक, श्रोत्रहु अरु मन में।
बुद्धि वीर्य में रहे नहीं जानत ये हममें॥
इन सबको यह देह करें नियमन इनि सबको।
नहीं दिखायी देइ कार्य देखै सब इनिको॥
श्रोता, विज्ञाता सबहिँ, मन्ता सबमें नित रहै।
अन्तरातमा सबनि को, अन्तरयामी अमृत है॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय मे
सप्तम अन्तर्यामी ब्राह्मण समाप्त।

पुनः गार्गी का याज्ञवल्क्यजी से शास्त्रार्थ (१)

[२३७]

अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति ॥*

(बृ० उ० ३ अ० ८ ब्रा० १ म०)

छप्पय

आरुणि जब चुप भये फेरितैं गार्गी आई।
सबतैं अनुमति माँगि पण्डिताई दरसाई॥
हौं द्वै पूछूँ प्रश्न दउ उत्तर तो विजयी।
ऊपर, नीचे, मध्य, सतत स्वरगहु भुव पृथिवी॥
ओत प्रोत को इनि सबनि? कहैं याज्ञ आकाश है।
ओत प्रोत आकाश में, किहि मैं वह आकाश है?

---

* आरुणि के चुप हो जाने के अनन्तर फिर से वाचक्नवी गार्गी ने आकर समुपस्थित सभी सभासदों से कहा—"परमपूजनीय ब्राह्मणवृन्द! अब आप मुझे इनसे दो प्रश्न पूछने की अनुमति प्रदान करें। मैं इनसे केवल दो प्रश्न पूछूँगी मेरे इन दोनों प्रश्नों का ये यदि यथार्थ उत्तर दे देंगे, तो समझ लेना चाहिये आप में से कोई भी इन्हें ब्रह्मवाद में जय नहीं कर सकता।" ब्राह्मणों ने कहा—'अच्छा गार्गी तू इनसे प्रश्न पूछ।"

तास का एक खेल होता है। उसमें पान, ईंट, चिड़ी और हुकुम, इस रंग के १३ १३ पत्ते होते हैं। इक्का से लेकर दहला तक के दश और दास, रानी और राजा तीन ये ऐसे प्रत्येक रंग के १२-१३ पत्ते होने से सब ५२ पत्ते होते हैं। दो या चार व्यक्ति खेलते हैं। सब पत्तों को एक में रखकर विपक्ष वालों से कुछ पत्ते उठाने को कहते हैं। जितने पत्ते वह उठा लेता है, उन्हें नीचे रख देते हैं। अब सबसे ऊपर के पत्ते को उलटकर देखते हैं। वह जिस रंग का हो, तो उसी रंग की 'तुरफ' मानी जायगी। जैसे ऊपर पान का दुक्का है, तो पान की 'तुरफ' हो गयी। फिर वे सब पत्ते खेलने वालों में बराबर-बराबर बाँट दिये जाते हैं। खेलने वालों में से जिसके पास तुरफ के जितने पत्ते अधिक आ जायँगे, वह उतना ही अधिक प्रसन्न हो जायगा। किसी ने नेहला डाला तो जिस पर दहला होगा, वह उसे जीत लेगा। जीतने का क्रम यह है कि दुक्का को तिक्का, तिक्का को चौका, चौका का पंजा, पंजा को छक्का, छक्का को सत्ता, सत्ता को अट्ठा, अट्ठा को नहला और नहला का दहला जीत लेता है। दहला को दास, दास को रानी और रानी को राजा और राजा को भी इक्का जीत लेता है। इक्का पत्तों में सबसे श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु इक्का को भी तुरफ का पत्ता जीत लेता है। तुरफ का पत्ता चाहे दुक्का तिक्का कोई भी क्यों न हो वह सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उस तुरफ का प्रयोग लोग अन्त में तभी करते हैं जब जीतने का अन्य कोई उपाय न हो। उनका प्रयोग सबसे अन्त में विवश होकर उसे अचूक समझ कर करते हैं।

यही बात शास्त्रार्थ में भी होती है। शास्त्रार्थ करने वाले पंडित गूढ़तम प्रश्नों को सुरक्षित रखते हैं। पहिले तो साधा- प्रश्न करते हैं। विपक्ष का विद्वान् सामान्य प्रश्नों से

हो गया, तब तो कोई बात ही नहीं। जब वह किसी प्रकार परास्त नहीं होता तब गूढ़ प्रश्न पूछते हैं। उनसे भी न हो, तो गूढ़तर प्रश्न पूछते हैं। उससे भी परास्त न हो गूढ़तम प्रश्न सबसे अन्त में पूछते हैं। उसका भी विपक्ष उत्तर दे दिया, तो अपनी पराजय मान लेते हैं।

पहिले इसी उपनिषद् के छटे गार्गी ब्राह्मण में गा और याज्ञवल्क्यजी के शास्त्रार्थ का वर्णन हो चुका है उसमें गार्गी एक के पश्चात् एक प्रश्न करती गयी है। अमुक किसमें ओत-प्रोत है। याज्ञवल्क्यजी इसका उत्तर गये। यह पृथ्वी जल में ओत-प्रोत है, जल वायु में ओत-प्रो है, वायु अन्तरिक्ष में इस प्रकार गार्गी पूछती गयी अन्तरि किसमें ओत-प्रोत है याज्ञवल्क्यजी कहते गये वह गन्धर्वलो में। वह पूछती ही गयी फिर वह किसमें, फिर वह किस अन्त में याज्ञवल्क्यजी ने प्रजापति लोक बताया। गार्गी पूछा अच्छा, प्रजापति लोक किसमें ओत-प्रोत है ? तब याज्ञ वल्क्यजी ने कहा—"वह प्रजापति लोक परब्रह्म परमात्म श्रीब्रह्मलोक में ओत प्रोत है। इस पर पुनः उसने पूछा– ब्रह्म लोक किसमें ओत प्रोत है ? इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा- "गार्गी ! अब तू अतिप्रश्न करने लगी। ब्रह्मलोक से परे कोई लोक ही नहीं। वह तो परात्परलोक है। इससे आगे यदि तू पूछेगी, तो अतिप्रश्न पूछने के अपराध से तेरा सिर धड़ से पृथक होकर गिर जायगा।" सिर कटने के भय से उस समय तो वह चुप हो गयी। किन्तु उसने याज्ञवल्क्य जी को जीतने के लिये जो तुरफ के दो पत्ते–दो गूढ़तम प्रश्न सुरक्षित रख रखे थे, उनका प्रयोग नहीं किया। वह उस समय शान्त हो गयी।

अब जब सुप्रसिद्ध ब्रह्मवेत्ता अरुण ऋषि के पुत्र महर्षि

उद्दालकजी ने सूत्र और अन्तर्यामी के सम्बन्ध में दो प्रश्न पूछे और याज्ञवल्क्यजी ने दोनों का ही यथार्थ उत्तर दे दिया, तो गार्गी पर अब न रहा गया। नियमानुसार जो एक बार परास्त हो चुका है, उसे पुनः प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं। किन्तु यदि विद्वत् परिषद् पराजित को भी पुनः प्रश्न करने की अनुमति दे दें, तो परिषद् के विद्वान् सभासदों की अनुमति से पराजित भी पुनः प्रश्न पूछ सकता है। इसी न्याय से गार्गी तो पहिले ही परास्त हो चुकी थी, इसीलिये अब के उसने सीधे याज्ञवल्क्य से प्रश्न नहीं किया। अपने छिपाये हुए दो गूढतम प्रश्नों के पूछने के लिये पहिले उसने सभासदों से अनुमति लेना आवश्यक समझा। अतः उसने सर्वप्रथम सभा में समुपस्थित विद्वान् ब्राह्मणों से ही प्रश्न करने की अनुमति माँगना उचित समझा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उद्दालक आरुणि के चुप हो जाने के अनन्तर फिर से वचक्नु मुनि की पुत्री वाचक्नवी गार्गी ने सीधे याज्ञवल्क्यजी से प्रश्न न करके सभा में समुपस्थित विद्वान् ब्राह्मणों को सम्बोधित करके कहा—"हे षडैश्वर्य सम्पन्न परम पूजनीय विप्रवृन्द! यदि आप सबकी आज्ञा हो, तो मैं इन याज्ञवल्क्यजी से दो प्रश्न और पूछना चाहूँगी। मेरे ये दो प्रश्न ऐसे हैं कि यदि ये उन मेरे दो गूढतम प्रश्नों का उत्तर दे देंगे, तो फिर ये सर्वविजयी होने के अधिकारी समझे जायँगे। फिर इन्हें आप में से कोई भी विद्वान् ब्रह्म सम्बन्धी शास्त्रार्थ में जीत नहीं सकता। आप यदि अनुमति दे दें तो मैं इनसे वे दो प्रश्न पूछूँ?"

याज्ञवल्क्यजी के उत्तर देने के रँग ढँग से ही सब अनुमान कर रहे थे, कि अब इन्हें कोई विद्वान् जीत नहीं सकता। जब गार्गी

ने पुनः ऐसे दृढ़ता के शब्द कहे तब तो सबको आन्तरिक प्रसन्नता हुई। उन्होंने सोचा—अच्छा है यह एक महिला के द्वारा परास्त हों। ऐसा सोचकर सभी ने एक स्वर से कहा—"गार्गी! बड़ी प्रसन्नता की बात है तुम इनसे जो पूछना चाहती हो, पूछो।"

ब्राह्मणों की अनुमति पाकर अब गार्गी महामुनि याज्ञवल्क्य जी के सम्मुख आयी। आकर उसने कहा—"याज्ञवल्क्यजी! जैसे कोई काशी राज्य का अथवा विदेह राज्य का धनुधारी वीर जिसने अपने धनुष की डोरी उतार दी हो, और फिर धनुष पर डोरी-प्रत्यञ्चा चढ़ाकर दो ऐसे तीक्ष्ण बाणों को हाथ में लेकर जिनके द्वारा वह अपने शत्रुओं को अत्यन्त ही प्रपीड़ित कर सके पुनः शत्रु के सम्मुख आ डटे, वैसे ही मैं अत्यन्त तीक्ष्ण बाण रूपी दो प्रश्नों को लेकर आपके सम्मुख समुपस्थित हुई हूँ। क्या तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर दोगे?"

यह सुनकर सरलता के साथ याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"गार्गीजी! आप पहिले प्रश्न पूछिये तो सही, मैं दे सकूँगा तो उत्तर दूँगा।"

इस पर गार्गी ने कहा—"मेरे ओत प्रोत वाले प्रश्न याद हैं! उसी के सम्बन्ध में प्रश्न पूछूँगी?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"पूछो न?"

गार्गी बोली—"याज्ञवल्क्यजी, अच्छा यह बताइये। जो स्वर्ग लोकों से भी ऊपर है और भूलोक से भी नीचे है तथा जो भूलोक और स्वर्लोक के भी मध्य में है। और जो स्वयं भी भूत है तथा स्वर्ग है। तथा जिसे भूत, भविष्य और वर्तमान कहते हैं। वे किसमें ओत प्रोत हैं?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखिये, गार्गीजी! स्वर्ग से ऊपर

मह, जन, तप और सत्यलोक हैं। पृथ्वी से नीचे अतल, वितल, सुतल तथा तलातल आदि सात भू विवर हैं। द्युलोक और पृथ्वी के बीच में अन्तरिक्षलोक है। वह सब सूत्र है, वह स्वय ही द्युलोक तथा पृथ्वी और सभी लोकों में व्याप्त है तत्स्वरूप है। यह सूत्र ही भूत, भविष्य और वर्तमान काल स्वरूप है। तुम्हारा प्रश्न सूत्र के सम्बन्ध में है। अर्थात् सूत्र किसमे ओत प्रोत है ? तो मैं इसका यही उत्तर देता हूँ, कि वह सूत्र-वायु रूप में-आकाश में ओत प्रोत है।"

यह सुनकर गार्गी प्रसन्न हुई। उसने कहा—"याज्ञवल्क्यजी! धन्यवाद है। मैं आपको नमस्कार करती हूँ। आपने मुझे मेरे प्रश्न का यथार्थ उत्तर दे दिया मेरे एक प्रश्न का उत्तर तो मिल गया, अब मैं दूसरा प्रश्न करती हूँ, उसका भी उत्तर देने के लिये आप उद्यत हो जाइये।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"गार्गीजी! आपने मेरे उत्तर को यथार्थ माना इसके लिये मैं आपको धन्यवाद देता हूँ। अब आप दूसरा भी प्रश्न पूछें। उसका भी मैं उत्तर दूँगा, आशा है आप उसका भी अभिनन्दन करेंगी, इसके लिये मैं पहिले से ही आपको अग्रिम धन्यवाद दिये देता हूँ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब गार्गी जैसे दूसरा प्रश्न करेंगी, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जामें वह आकाश ओत अरु प्रोत बतायो।
है वह अक्षर, थूल सूक्ष्म नहिँ ह्रस्व कहायो॥
नहीं दीर्घ, द्रव, लाल न छाया नभ न वायु तम।
सग, गन्ध, रस, नेत्र, कान, वाणी नहिँ मुख मन॥
अन्तर, मात्र न प्राण नहिँ, तेज न बाहिर भीतरो।
स्वय खाइ नहिँ ताहि कूँ, खावै कोई दूसरो॥

पुनः गार्गी का याज्ञवल्क्यजी से शास्त्रार्थ (२)

(२३८)

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद् भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः ॥❀

(बृ० उ० ३ अ० ८ ब्रा० १० मन्त्र)

छप्पय

रवि शशि ताके रहें प्रशासन अक्षर जो है।
स्वरग, भूमि, दिन, रात, काल, सम्वत्सरसो है॥
पर्वत, नद अरु नदी बहें नर करहिं प्रशंसा।
देव, पितर यजमान होम अनुवर्तित यशसा॥
ता अक्षर जाने बिना, करहिं यज्ञ, तप व्यरथ सब।
कृपण मरे जाने बिना, जानि मरै सो विज्ञ अब॥

❀ याज्ञवल्क्यजी गार्गी से कह रहे हैं — 'हे गार्गि ! इस प्रकार ब्रह्म को जाने बिना जो कोई इस लोक में हवन, यज्ञ, सहस्रों वर्षों तक तप करता है, उसका यह सब कर्म अन्तवान् ही है। जो इस प्रकार ब्रह्म को जाने बिना इस लोक से प्रयाण करता है, वह कृपण ही है। इसके विपरीत जो इस प्रकार को जानकर इस लोक से प्रयाण करता है, वास्तव में वही ब्राह्मण है।

यह शरीर पाप पुण्य दोनों के मिश्रण से मिलता है। कितनी योनियों के पश्चात् यह मनुष्य शरीर प्राप्त होता है। मनुष्य का दूसरा नाम साधक भी है। यह मनुष्य शरीर चौराहे के सदृश है। इससे चारों ओर जा सकते हैं। मनुष्य शरीर से बुरे कर्म करने पर नरक में जा सकते हैं, अच्छे कर्म करने पर स्वर्ग में जा सकते हैं। सम करने पर फिर मनुष्य हो सकते हैं। ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मुक्ति भी प्राप्त कर सकते हैं। इस नर मनुष्य के शरीर को पाकर परमार्थ सम्बन्धी साधन करने चाहिये। परमार्थ सम्बन्धी साधन क्या है ? यज्ञ, दान, तथा तपादि शुभ कर्म ही साधन हैं। ये मनुष्यों को पावन बनाने वाले हैं। जन्मजन्मान्तरों का संचित मल बिना यज्ञ, दान तथा तपस्या के नष्ट नहीं होता। यज्ञ, दान तथा तपस्या द्वारा शरीर में जमा हुआ मल ढीला पड जाता है, वह शनैः शनैः क्षय होने लगता है।

यज्ञ अनेक प्रकार के हैं। उनमें द्रव्ययज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय ज्ञानयज्ञ तथा संयमयज्ञ आदि अनेकों यज्ञ हैं। ये सब चित्त शुद्धि में कारण हैं। द्रव्यों को अग्नि में वेद विधि से आहुति देने को हवन कहते हैं। अपनी न्यायोपार्जित वस्तु में से ममता हटाकर उसे सविधि सुयोग्य पात्र को दे देने का नाम दान है, शास्त्रीय विधि से कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतों द्वारा शरीर को सुखा देने का नाम तप है। भगवत् प्रीत्यर्थ एकादशी आदि का उपवास करना यह भी तप है। गीताजी में शारीरिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकार के तप इनसे भिन्न ही बताये हैं। देव, द्विज, गुरु और ज्ञानियों का पूजन, शौच सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा ये शारीरिक तप हैं। किसी को उद्वेग न पहुँचाने वाली, सत्य, प्रिय और हितकर वाणी बोलना, मन्त्रों का जप करना यह वाणी का तप है और मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन और आत्मनिग्रह

तथा भावों की संशुद्धि ये मानसिक तप हैं। इनके भी सात्त्विक, राजस् और तामस् तीन भेद बताये हैं।

ये तप, होम और यज्ञादि कर्म अज्ञान से लोक दिखावे को भी किये जा सकते हैं। इन यज्ञ, दान तपादि शुभ कर्मों का एकमात्र उद्देश्य प्रभु की प्राप्ति ही है। यदि प्रभु प्राप्ति के उद्देश्य से कर्म किये जाते हैं तब तो ये सुन्दर हैं। यदि प्रभु प्राप्ति के निमित्त न करके *लोक दिखावे को, यश, कीर्ति तथा विषय भोगों* की प्राप्ति के निमित्त ये किये जायँ, तो ऐसा ही है जैसे पारस देकर उसके बदले में काँच के मूँगे ले लिये हों। इन शुभ कर्मों द्वारा अविनाशी को प्राप्त कर ले, तब तो ये कर्म सफल हैं, और यदि इनके द्वारा फिर ही *नाशवान् वस्तु प्राप्त का जायँ*, तब तो इनका श्रम निष्फल ही समझना चाहिये। विषय भोग तो सभी योनियों में कुछ-न-कुछ मिल ही जाते है। अतः समस्त साधन उस अक्षर ब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के ही निमित्त करने चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! दूसरे प्रश्न का उपक्रम बाँधने को गार्गी जहाँ से छोड़ा था वहीं से पुनः प्रश्न करने लगी। उसने पूछा—"याज्ञवल्क्यजी ! जो स्वर्ग से ऊपर, पृथ्वी से नीचे, *स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य में है और जो स्वयं स्वर्ग तथा* पृथ्वी हैं जिन्हें भूत, भविष्य, वर्तमान इस प्रकार कहते हैं वे किसमें ओत प्रोत हैं ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"गार्गि ! कह तो दिया इन लक्षणों से *लक्षित सूत्र आकाश में ओत प्रोत है।"*

गार्गी ने पूछा—"आकाश किसमें ओत प्रोत है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"गार्गि ! आकाश जिस परमतत्त्व में ओत प्रोत है, उसे *वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जाता।"*

गार्गी ने पूछा—"क्यों नहीं व्यक्त किया जा सकता ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"इसलिये गार्गि ! व्यक्त नहीं किया जा सकता, कि उस तत्त्व को ब्रह्मवादी ब्राह्मणगण अक्षर इस नाम से कहते हैं।"

गार्गी ने पूछा—"वह अक्षर कैसा है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"कह तो दिया वह अवाङ्मनस गोचर है। उसका कोई आकार प्रकार होता, लम्बाई चौड़ाई होती तो बताते भी। वह न मोटा है न पतला, न छोटा है न बड़ा, न लाल न द्रव, न छाया है न तम, न वायु है न आकाश, न संग न असंग, न रस है न गंध, न नेत्र है न कान, न वाणी है न मन, न तेज है न प्राण, न मुख है न माप, न अन्तर है न बाहर, वह न किसी अन्न को खाता है और न वही किसी का अन्न है जिसे दूसरे लोग खाते हों।"

गार्गी ने कहा—"जब वह प्रत्यक्ष नहीं दीखता, तो कुछ अनुमान से ही बताइये।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"अनुमान से भी क्या बताया जाय। उसके विषय में अनुमान करना भी तो कठिन है, फिर भी मैं कुछ कहता हूँ देखो, गार्गि ! उस अक्षर के ही प्रशासन में ये सूर्य चन्द्र रहते हैं। उसी के अनुशासन को धारण किये हुए य स्थित रहते हैं। पृथ्वी तथा स्वर्ग, कालरूप से निमेष, मुहूर्त, दिन-रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, संवत्सर, ये सबके सब अक्षर के ही प्रशासन में स्थित रहते हैं। हे गार्गि ! तुम्हें कहाँ तक बताऊँ ये पूर्ववाहिनी तथा अन्य नदियाँ श्वेत पर्वत से इसी के प्रशासन में बहती हैं। अन्य नदियाँ जिस जिस दिशा को बहने लगती हैं उसी का अनुसरण करती हैं। मनुष्य जो दाता की प्रशंसा करता है। देवगण यजमान का, पितृगण दर्वी होम का इसी अक्षर ब्रह्म के प्रशासन में रहकर अनुवर्तन करते हैं।"

गार्गी ने पूछा—"अक्षर की ओर ध्यान न देकर यज्ञ, होम, दान तथा तपस्यादि शुभ कर्मों को करता रहे तो क्या पुरुष का कल्याण न होगा ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"यज्ञ, दान, तपस्या तथा होमादि अन्तःकरण को पवित्र करने वाले शुभ कर्म अवश्य हैं, किन्तु इन सब शुभ कर्मों का एकमात्र मुख्य उद्देश्य अक्षर ब्रह्म का परिज्ञान ही है। जो पुरुष इस लोक में अक्षर ब्रह्म की उपेक्षा करके-उसे जाने बिना-होम, यज्ञ तथा असख्यों वर्ष पर्यन्त तपस्या करता है, तो ये सबके सब कर्म अन्तवन्त हैं। इन कर्मों का कभी-न-कभी क्षय हो जायगा। अतः जो पुरुष इस अक्षर ब्रह्म को बिना जाने इस लोक से मरकर जाता है, वह कृपण है। कृपण उसे कहते हैं जो ससारी भोगों की प्राप्ति की कामना से कर्म करता है। जो कामना सहित कर्मों में ही प्रवृत्त होता है। वह सर्वथा सुखी नहीं, दीन है, कृपण है। इसके विपरीत हे गार्गि ! जो अक्षर ब्रह्म का परिज्ञान करके इस लोक से प्रयाण करता है, वह ब्राह्मण है। वेदज्ञ है, उसके लिये जानने को कुछ भी अवशेष नहीं रहा। उसने सब कुछ जान लिया।"

गार्गी ने कहा—"उस अक्षर का कुछ भी तो स्वरूप तथा लक्षण बताइये।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"गार्गि ! तू एक ही प्रश्न को बार-बार पूछती है। मैंने कह तो दिया वह अक्षर बाह्य इन्द्रियों तथा अन्तःकरण का विषय नहीं है। गार्गि ! देख वाणी उसे व्यक्त करने में सर्वथा असमर्थ है, क्योंकि वह वाणी का विषय ही नहीं वह दृष्टि का भी विषय नहीं किन्तु वह सबका द्रष्टा है। प्राणी मात्र के कर्मों को देखता रहता है। वह श्रवण का विषय नहीं। फिर भी श्रोता है सबकी बातों को सुनता रहता है। वह

मन द्वारा मनन का विषय नहीं, किन्तु स्वय मन्ता है, सब कुछ मनन करता रहता है। वह स्वयं अविज्ञात है, किन्तु दूसरों को जानता रहता हे, दूसरो का विज्ञाता है। ससार मे जो अपने को द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता मानते हैं, उन सबका ऐसा मानना मिथ्या हे। ससार मे उस अक्षर ब्रह्म के अतिरिक्त कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता तथा विज्ञाता नहीं हे। यह आकाश उसी अक्षर मे ही ओत प्रोत हे। अक्षर किसी मे भी ओत प्रोत नहीं। वह काष्ठा हे, अक्षर ही परागति हे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब याज्ञवल्क्यजी ने अक्षर ब्रह्म मे ही आकाश को ओत प्रोत बता दिया और वह अक्षर स्वय मे ही ओत प्रोत है, उससे परे कोई हे ही नहीं, वह सर्व कारणों का कारण हे। ऐसा सिद्ध कर दिया, तब गार्गी याज्ञवल्क्य की ओर से मुख मोडकर अन्य सभा मे समुपस्थित विद्वान् ब्राह्मणो के अभिमुख होकर कहने लगी—"हे षटैश्वर्य सम्पन्न परम पूजनीय विप्रवृन्द! मैंने पहिले प्रतिज्ञा की थी कि ये याज्ञवल्क्यजी मेरे दो प्रश्नों का उत्तर दे देंगे, तो फिर इनको आप लोगो मे से कोई भी जीत नहीं सकता। इन्होंने मेरे दोनो प्रश्नों का समुचित यथार्थ उत्तर दे दिया। अब मेरी सम्मति तो यही हे कि आप इनका बहुमान करें–सम्मान करें–अब इनसे शास्त्रार्थ करके इन्हे जीतने का प्रयत्न करना छोड़ दें। आप इसी मे अपना कल्याण समझें इसी को बहुत मानें कि केवल नमस्कार करके ही इनसे अपना पिंड छुडा लें अर्थात् नमस्कार करके ही इनसे अपना छुटकारा कर लें। मेरा दृढ़ निश्चय है, कि आप में से कोई भी विद्वान् त्रिकाल मे भी इन्हें ब्रह्म विषयक शास्त्रार्थ मे जीत नहीं सकता। मैंने अपना निर्णय आप सबके सम्मुख प्रकट कर दिया। अब आप लोगों की जो इच्छा हो वह करें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! ऐसा कहकर महर्षि वचक्नु की पुत्री याज्ञवल्क्यजी को नमस्कार करके उपराम को प्राप्त हो गयी—चुप हो गयी। गार्गी के इतना कहने पर भी अब जैसे शाकल्यमुनि शास्त्रार्थ के लिये आगे आवेंगे, उस प्रकरण को मैं आप सबसे आगे कहूँगा। शाकल्य के शास्त्रार्थ से ही अन्तिम समझा जायगा।"

छप्पय

द्रष्टा, श्रोता तथा वही मन्ता विज्ञाता।
दृष्टि, श्रवण अरु मनन विषय है नहीं सुज्ञाता॥
अक्षर में ही ओत प्रोत आकाश बतायो।
अक्षर तैं पर नहीं परात्पर वह कहलायो।
गार्गी बोली—विप्रगण! याज्ञवल्क्य विजयी सतत॥
भई चुप कहि अन्त में, करि न सकें सब पराजित।

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय में
अष्टम अक्षर ब्राह्मण समाप्त।

याज्ञवल्क्य और शाकल्य का शास्त्रार्थ (१)

(२३६)

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा ।
याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे ॥*

(बृ० उ० ३ अ० ९ ब्रा० १ मं०)

छप्पय

पुनि आये शाकल्य, देवगण कितने है सब ?
तीन सहस सौतीन और छै, सत्य-कहो अब ?
देव किते ? तैंतीस, सत्य-फिरि देव कहो सब ?
छै हैं सबरे देव, कहो फिरि ? तीन-सत्य अब ?
दो डेढ़ हु अरु एक हैं, ये सबरे ई देव हैं।
तीन सहस सौ तीन छै, कहो फेरि ये कौन हैं ?

शास्त्रार्थ में जब जिस पक्ष के लोग हारने लगते हैं, तब ऐसे छोटे-छोटे प्रश्न करने लगते हैं, जिनका ज्ञान सर्वसाधारण को नहीं होता। अथवा जो बातें कंठस्थ नहीं होती। एक पंडितजी ने हमें बताया कि एक बार आर्यसमाजी और सनातन धर्मियों

---

* गार्गी की घोषणा के अनन्तर भी अपने को विद्वान् मानने वाले शाकल्य विदग्ध याज्ञवल्क्यजी के सम्मुख आये और आकर उनसे पूछा— "हे याज्ञवल्क्य ! सब देवगण कितने हैं ?" तब याज्ञवल्क्यजी ने निविद से ही उनकी सख्या का प्रतिपादन किया।

का शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ होते-होते एक पक्ष के पंडित ने पूछ दिया कि जैसे गौ के दाँत नीचे के ही होते हैं, ऊपर के नहीं होते, घोड़े के दाँत ऊपर नीचे दोनों ओर होते हैं। अब बताइये ऊँट के दाँत कैसे होते हैं। दोनों ओर होते हैं या एक ओर ?

पंडितजी ने बताया—"हमने ऊँट तो देखा था, किन्तु यह कभी नहीं देखा, कि उसके दाँत कैसे होते हैं। हमने अनुमान से कह दिया, ऊँट के दाँत नीचे के ही होते हैं। ऊपर नहीं होते।"

विपक्ष के पंडित ने कहा—"नहीं, ऊँट के दाँत दोनों ओर होते हैं।"

हम अपने पक्ष पर अड़ गये, कहने लगे—"नहीं, एक ही ओर होते हैं।" तब निश्चय हुआ ऊँट मँगाया जाय और देखा जाय कि ऊँट के दाँत एक ही ओर होते हैं या दो ओर। ऊँट कहीं दूर से मँगाना था अतः बात कल के लिये स्थगित हो गयी। पंडितजी बताते थे, कि हमें पूरा पता तो था नहीं कि ऊँट के एक ही ओर दाँत होते हैं, अनुमान से उस समय कह दिया था। जब ऊँट मँगाने का निश्चय हुआ तो हम असमंजस में पड़े। रात्रि में उठकर भाग आये कि कहीं भरी सभा में भद्द न हो।"

अब बताइये, ऊँट के दाँतों से और शास्त्रार्थ से प्रयोजन क्या ? किन्तु अपने विपक्षी को साम से, दान से, दण्ड से तथा भेद से कैसे भी हराना चाहिये। इसे वितण्डावाद कहते हैं। शास्त्रार्थ में लोग प्रश्न के ऊपर प्रश्न पूछते जाते हैं। जहाँ तनिक भी विपक्ष का उत्तर देने में हिचका वहाँ सब लोक तालियाँ पीटने लगते हैं। परास्त हो गया। अतः शास्त्रार्थ में प्रतिपक्षी जो भी पूछे तत्काल निर्भीकता के साथ उत्तर देते ही जाना चाहिये चाहे वह गूढ़ प्रश्न पूछे चाहे सामान्य। शाकल्यजी ने याज्ञवल्क्यजी से आरम्भ में सामान्य ही प्रश्न किये। याज्ञवल्क्यजी तो सर्वज्ञ

थे, अतः वे प्रत्येक प्रश्न का निर्भयता के साथ तत्काल उत्तर देते गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महर्षि वचक्नु की पुत्री गार्गी महामुनि याज्ञवल्क्यजी का लोहा मानकर उन्हें सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मिष्ठ घोषित करके शास्त्रार्थ से विरत हो गयी और सबसे कह गयी-कि अब इनसे कोई भी शास्त्रार्थ करने का साहस न करें। इन्हें नमस्कार करके सब शास्त्रार्थ से विरत हो जायँ। इतने पर भी अपने को महापंडित मानने वाले शाकल्य विदग्ध शास्त्रार्थ के लिये सम्मुख आ ही तो गये। वे याज्ञवल्क्यजी के सम्मुख आकर कहने लगे—"याज्ञवल्क्य! अब मैं भी आपसे कुछ प्रश्न पूछना चाहता हूँ।"

याज्ञवल्क्य—"पूछिये।"

शाकल्य—"अच्छा, बताइये सब देवगण कितने हैं?"

याज्ञ०—"यह तो सामान्य प्रश्न है। देवताओं की संख्या बताने वाले मन्त्रों में सर्वत्र देवताओं की संख्या बतायी गयी है।"

शाकल्य—"वेद मन्त्रों में तो बताया ही गया है। आप उनकी स्पष्ट संख्या बताइये।"

याज्ञवल्क्य—"तीन और तीन सौ, तीन और तीन सहस्र हैं। अर्थात् तीन सहस्र तीन सौ छे हैं।"

शाकल्य—"एवम्, तुम्हारा कहना यथार्थ है। अब क्रम पूर्वक बताओ देव कितने हैं?"

याज्ञ०—"तैंतीस देव हैं।"

शाकल्य—"यह भी सत्य है। और बताइये देव कितने हैं?"

याज्ञ०—"देव छः हैं।"

शाकल्य—"सत्य है। फिर बताइये। देव के हैं?"

याज्ञ०—"देव तीन हैं।"

शाकल्य—"सत्य है। फिर बताइये देव के है ?"

याज्ञ०—"देव दो हैं।"

शाकल्य—"यह भी सत्य है। फिर बताइये देव के हैं ?"

याज्ञवल्क्य—"देव डेढ़ हैं।"

शाकल्य—"सत्य है। पुनः बताइये देव के हैं ?"

याज्ञ०—"देव एक है।"

शाकल्य—"यह भी सत्य है। अब कृपा करके आपने जो समस्त देव तीन सहस्र तीन सौ छः बताये थे, वे कौन-कौन से हैं। उन सबके पृथक्-पृथक् नाम बताइये ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखो, भैया! वास्तव में देवता तो तैंतीस ही हैं। और जितने हैं वे तो सब इन तैंतीस देवों की महिमा ही हैं।"

शाकल्य—"अच्छा, उन तैंतीस के ही नाम गिनाइये।"

याज्ञ०—"देखो, आठ तो वसुगण, ग्यारह रुद्रगण, बारह आदित्य। सब कितने हुए ?"

शाकल्य—"आठ+ग्यारह+बारह=ये तो मिलाकर ३१ ही होते हैं ?"

याज्ञ०—"इकतीस ये हुए एक इन्द्र और एक प्रजापति इस प्रकार इकतीस में दो जोड़ने से सब तैंतीस हो गये या नहीं ?"

शाकल्य ने कहा—"यह तो सत्य ही है। अब सबके पृथक्-पृथक् नाम बताइये। अच्छा, बताइये आठ वसु कौन-कौन से हैं ?"

याज्ञ०—"इनके नाम १-अग्नि, २-पृथ्वी, ३-वायु, ४-अन्तरिक्ष, ५-आदित्य, ६-द्युलोक, ७-चन्द्रमा और ८-नक्षत्र हैं। ये ही आठ वसु हैं।"

शाकल्य—"इनका नाम वसु क्यों है ?"

याज्ञ०—"इस सम्पूर्ण जगत् को ये बसाये हुए हैं और स्वयं भी जगत में बसते हैं इसीलिये इन्हें वसु कहते हैं। (इदं सर्वं जगद्—वासयन्ति अथवा वसन्ति इति=वसवः) ये मानों सम्पूर्ण जगत् का धन हैं।"

शाकल्य—"आपका कथन यथार्थ है। अब यह बताइये, आपने जो एकादश रुद्र बताये वे कौन-कौन हैं?"

याज्ञ०—"पुरुष में जो दश विध प्राण हैं अर्थात् दश इन्द्रियाँ हैं और ग्यारहवाँ आत्मा-मन-है ये ही एकादश रुद्र हैं।"

शाकल्य—"इनका नाम रुद्र क्यों पड़ा है?"

याज्ञ०—"देखिये, ये कर्मों के फलों के उपभोग निमित्त शरीर में रहते हैं। जब प्राणियों के कर्मों के फलों का उपभोग समाप्त हो जाता है। प्रारब्ध कर्म क्षय हो जाते हैं, तब ये उस शरीर को छोड़कर चले जाते हैं। जब शरीर से ये ग्यारह निकल जाते हैं तब पुरुष मर जाता है तो उसके सगे सम्बन्धी रोने लगते हैं। ये सम्बन्धियों को रुलाते हैं, इसलिये रुद्र कहलाते हैं। (रोदयन्ति तत्सम्बन्धिनः=इति रुद्राः) इनके निकलने से ही सब रोते हैं। रोने में ये निमित्त कारण होने से रुद्र कहलाते हैं।"

शाकल्य ने पूछा—"*यह तो आपका कथन सत्य है।* अब आप कृपा करके बारह आदित्यों के सम्बन्ध में और बताइये।"

याज्ञ०—"देखो, काल का जो एक सम्वत्सर रूप है। उसमें बारह मास होते हैं। उनके नाम (१) चैत्र, (२) वैशाख, (३) ज्येष्ठ, (४) आषाढ़, (५) श्रावण, (६) भाद्रपद, (७) आश्विन, (८) कार्तिक, (९) मार्गशीर्ष, (१०) पौष, (११) माघ और (१२) फाल्गुन हैं। ये संवत्सर के अवयव भूत हैं। अतः बारह मास ही बारह आदित्य हैं।"

शाकल्य—"इनका नाम आदित्य क्यों पड़ा ?"

याज्ञ०—"ये बारह महीने पुनः-पुनः आते जाते रहते हैं। आते जाते क्या रहते हैं, प्राणियों की आयु का नाश करते रहते हैं। सबकी आयु का आदान करने से ये आदित्य कहलाते हैं। (सर्वं आददानायन्ति तस्माद् आदित्याः) सबकी आयु को बटोरते रहने से आदित्य हैं।"

शाकल्य—"यह भी सत्य है। अब इन्द्र कौन हैं ? प्रजापति कौन हैं ? इसे और बताइये ?"

याज्ञवल्क्य—"देखो, यह जो (स्तनयित्नु) बिजली चमकती है यही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है।"

शाकल्य—"स्तनयित्नु किसे कहते हैं ?"

याज्ञ०—"अशनि अर्थात् वज्र का ही नाम स्तनयित्नु है। यह विद्युत इन्द्र का वज्र ही है। जिसके हाथ में वज्र हो वही पुरन्दर–इन्द्र–है।"

शाकल्य—"आपने प्रजापति यज्ञ को बताया यज्ञ कौन है ?"

याज्ञ०—"यज्ञ का साधन होने से पशु (जीव) ही यज्ञ है।"

शाकल्य ने कहा—"अच्छा याज्ञवल्क्य जी ! आपने छः देव बताये थे वे ६ देव कौन-कौन–से हैं ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"(१) अग्नि, (२) पृथ्वी, (३) वायु, (४) आकाश, (५) सूर्य, और (६) द्युलोक ये ही ६ देव हैं। अर्थात् जो अष्ट वसु बताये थे उनमें चन्द्रमा और नक्षत्र को पृथक् करने से ये ही ६ देव मुख्य हैं।"

शाकल्य—"आपने तीन देव बताये थे वे तीन देव कौन-कौन से हैं ?"

याज्ञ०—"भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्ग लोक ये ही तीन मुख्य देव हैं।"

शाकल्य—"ये तीन मुख्य देव क्यों हैं ?"

याज्ञ०—"इसलिये कि समस्त देव इन तीनों ही लोकों में रहते हैं।"

शाकल्य—"यह तो सर्वथा सत्य ही है। अच्छा, आपने जो दो देव बताये थे, दो देव कौन-कौन से हैं ?"

याज्ञ०—"एक तो अन्न दूसरे प्राण ये ही दो देव हैं।"

शाकल्य—"ये दो देव तो मुख्य हैं ही। अच्छा आपने अध्यर्ध (डेढ़) देवता बताये थे। ये अध्यर्ध देव कौन हैं ?"

याज्ञ०—"यह जो बहता है (वायु) वही अध्यर्ध (डेढ़) देवता है।"

शाकल्य ने कहा—"वायु तो अकेले ही बहते हैं आधा तो इनके साथ बहने वाला कोई है नहीं फिर इन्हें आप अध्यर्ध (डेढ़) क्यों कहते हैं ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"यहाँ आधि का अर्थ आधा न करके वृद्धि अर्थ है अर्थात् इस वायु के विद्यमान होने पर ही सभी वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसलिये ये वायुदेव अध्यर्ध कहलाते हैं। (अधि-ऋद्धिं प्राप्नोति—इति अध्यर्धः)।

शाकल्य—"यह तो सत्य है। अच्छा, यह बताओ, आपने जो एक ही देव बताया वह एक देव कौन हैं ?"

याज्ञ०—"वह एक देव प्राण ही हैं। उन प्राण की ही ब्रह्म संज्ञा है। केवल परब्रह्म नारायण ही एक देव हैं।"

शाकल्य—"उस परब्रह्म को प्राण क्यों कहा ?"

याज्ञ०—शास्त्रों की ऐसी ही प्रणाली है। वे छिपाकर बात कहते हैं। देवता परोक्ष प्रिय होते हैं। (परोक्षप्रिया इव हि देवाः) उन परम दिव्य देव ब्रह्म को ही 'त्यत्' ऐसा कहते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब प्राण को ही ब्रह्म बता दिया

तब शाकल्य ने प्राण ब्रह्म के आठ प्रकार के भेदों के सम्बन्ध जैसे प्रश्न किये उन्हें मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

(१)

मुख्य देव तैंतीस, आठ वसु रुद्र इकादश।
बारह है आदित्य, प्रजापति, इन्द्र तीनि तिस॥
नाम सबनि के ? वायु, अगिनि, भू अंतरिच्छ शशि।
स्वर्ग लोक आदित्य और नक्षत्र आठ वसु॥
दश इन्द्रिय मन इकादश-रुद्र रुवावें मरन प्रति।
बारह मास अदित्य हैं, इन्द्र-वज्र, मख-प्रजापति॥

(२)

देव कहे छै कौन ? अगिनि, भू, वायु, अंतरिछ।
स्वर्गलोक, आदित्य, मुख्य ये तैंतीसनि बिच॥
तीन लोक त्रयदेव, अन्न अरु प्राणदेव द्वै।
वायु कहे अध्यर्ध ऋद्धि कूँ प्राप्त सबहिँ है॥
प्राण ब्रह्म इक त्यत्हि है, भू आयतन कहा कह्यो ?
कह्यो पुरुष शारीर वह, देवतासु को को रह्यो ?

—०—

याज्ञवल्क्य और शाकल्य का शास्त्रार्थ (२)

[२४०]

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वां स्विदिमे ।
ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रता ३ इति ॥*

(बृ० उ० ३ अ० ६ब्रा० १८ मन्त्र)

छप्पय

अमृत हि ताको देव, काम आयतन बताओ ?
पुरुष काममय कह्यो, नारि तिहिँ देव कहायो ॥
रूप आयतन पुरुष ? पुरुष आदित्य कहावै ।
सत्यहिँ तिनिके देव, आयतन नभहिँ बतावैं ?
प्रातिश्रुत्कहिँ पुरुष वह, दिशा कहावैं देव जिहि ।
तम आयतनहु पुरुष को ? छायामय है पुरुष तिहि ॥

जो लोग गम्भीर होते हैं, वे सहसा किसी के सम्मुख वाद-विवाद के लिये नहीं आते। जो लोग हमारा नाम हो, हमें सब लोग जाने ऐसी भावना रखते हैं, वे आगे आकर वाद-विवाद करने को उत्सुक रहते हैं। ऐसे लोगों को कुछ लोग आगे करके

---

* शाकल्य जब बहुत बढ-बढकर प्रश्न पर प्रश्न करते गये और याज्ञवल्क्य उसका उत्तर देते ही गये, तब शाकल्य को चेतावनी देते हुए याज्ञवल्क्यजी कहने लगे—"शाकल्य ! प्रतीत होता है, इन समस्त ब्राह्मणों ने तुम्हें अंगारे निकालने का चिमटा बनाकर भेजा है।"

स्वय दर्शक बन के उनके कार्यों को देखते रहते हैं। यदि उसकी विजय हो गयी, तो उस विजय में सभी सम्मिलित हो जाते हैं। सब कहने लगते हैं—"हम सबने मिलकर उसे परास्त कर दिया।" यदि उसकी पराजय हो जाती है, तो उस पराजय का फल उस अग्रणी को ही भोगना पड़ता है। बुद्धिमान् लोग ऐसे यश लोलुप पुरुषों को उकसाकर आगे कर देते हैं। उन लोगों के ही लिये यह कहावत है कि "मंत्र तो मैं पढ़ता हूँ, सर्प की बामी में हाथ तुम डालो।" यदि सर्प पकड़ा गया, तो मन्त्र पढ़ने वाला कहेगा, मेरे मन्त्र के प्रभाव से पकड़ा गया है। यदि सर्प ने काट लिया, तो मन्त्र पढ़ने वाला तो बचा रहेगा, मरेगा बामी में हाथ डालने ही वाला। कुछ लोग दूसरों के कंधों पर बन्दूक रखकर लक्ष्यभेद करते हैं। यदि मारा गया तो वही मरेगा, जिसके कन्धे पर बन्दूक है, यदि लक्ष्य सिद्धि हो गयी तो श्रेय चलाने वाले को मिलेगा। लोग अपने कठिन कार्य की सिद्धि के लिये दूसरे प्रतिष्ठालोलुप को निमित्त बना लेते हैं, जैसे आग के अंगारे को निकालने के लिये चिमटा को निमित्त बना लेते हैं। अपने कार्य के लिये प्रज्वलित अग्नि कुंड से अग्नि निकालनी है। स्वय अपने हाथों से निकालें तो हाथ जल जायँगे। अतः चिमटे से अग्नि निकालते हैं। चिमटे से निकाली अग्नि से स्वार्थ तो अपना सिद्ध होगा, किन्तु शरीर जलेगा चिमटे का। इसी प्रकार जनक की शास्त्रार्थ सभा में याज्ञवल्क्यजी की प्रत्युत्पन्न मति को देखकर, प्रश्नों के तत्काल युक्ति सगत उत्तरों को सुनकर विद्वानों ने अनुमान लगा लिया था, कि याज्ञवल्क्य को शास्त्रार्थ में जीतना कठिन है। जब गार्गी ने पुनः उनसे दो कठिन-तम प्रश्न पूछने का उत्साह दिखाया, तब विद्वानों को आशा बँधी कि सम्भव है याज्ञवल्क्य गार्गी के प्रश्नों का उत्तर न दे सके, किन्तु

याज्ञवल्क्यजी ने उसके दोनों प्रश्नों का भी उत्तर दे दिया। तब उसने घोषणा कर दी–"अब इन्हे ब्रह्म विषयकवाद में आप म स कोई जीत नहीं सकता। आप इन्हे नमस्कार करो और इतने से ही छुटकारा पाओ। अब कोई भी मक्खी के छत्ता में हाथ डालने का साहस न करो।"

इतने पर भी पडितमानी शाकल्य मुनि नहीं माने। अब वे आगे आये। विद्वानों ने उन्हे ही बलिदान का बकरा बनाया। आशा भी बडी बुरी वस्तु है। भीष्म, द्रोण तथा कर्ण जैसे ससार प्रसिद्ध महामहारथी मर गये। फिर भी दुर्योधन के हृदय म आशा की एक क्षीण रेखा बनी ही रही। उसने शल्य को सेनापति बनाकर पाडवो को जीतने की आशा की। इसी प्रकार जब सब पडित पराजित हो गये, तो शाकल्य द्वारा ही विद्वानों ने आशा लगायी कि सम्भव है यह ही याज्ञवल्क्य को जीत ले। यदि यह जीत लेगा तो नाम यही होगा, सभी विद्वानो ने याज्ञवल्क्य को परास्त कर दिया। यदि पराजित होने पर सिर कटेगा तो इन्हीं अकेले का कटेगा। इसीलिये शाकल्य का सबने अनुमोदन किया वे भी याज्ञवल्क्यजी से प्रश्न के ऊपर प्रश्न पूछते ही गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब तैंतीस, छे, तीन, दो, डेढ और एक देवताओं के सम्बन्ध म याज्ञवल्क्यजी ने शाकल्य को यथार्थ उत्तर दे दिये तब उन्होंने आयतनों (शरीरों) के सम्बन्ध म आठ प्रश्न किये। उनम से पहिला प्रश्न पृथ्वी के आयतन (शरीर) के सम्बन्ध म है।"

शाकल्यजी ने पूछा—"याज्ञवल्क्य! देखो, एक देवता है उसके सम्बन्ध म तुम जानते हो?"

याज्ञवल्क्य—"उस देवता का पहिले परिचय तो दीजिये तब बतावेंगे कि जानते हैं या नहीं।"

शाकल्य—"उस देवता का पृथ्वी तो शरीर है। उसके देखने का साधन अग्नि ही है। उसकी ज्योति मन है। उसके द्वारा ही वह संकल्प विकल्पादि कार्यों को करता है। जो भी उस पुरुष को समस्त अध्यात्म कार्य-कारण समूह का परायण जानता है। अर्थात् जो सम्पूर्ण जीवों का उत्तम आश्रय है। उस पुरुष को जो भली भाँति जानता है, वास्तव में वही ज्ञाता कहलाता है। याज्ञवल्क्य! क्या तुम उस पुरुष को जानते हो।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"हाँ, मैं उस पुरुष को जानता हूँ, जिसे तुम समस्त जीवों का उत्तम आश्रय कहते हो।"

शाकल्य ने कहा—"अच्छा! यदि तुम जानते हो तो बताओ वह कौन है?"

याज्ञवल्क्य—"वह शारीर-शरीरों में रहने वाला-पुरुष है। क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, स्वर्ग आदित्य, दिशायें, चन्द्रमा, तारागण, तेज, समस्त प्राणी, प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वचा तथा बुद्धि, वीर्य ये सभी उसी के शरीर हैं। वही सबका एक मात्र आश्रय है।"

शाकल्य—"अच्छा, उस शारीर पुरुष का देवता कौन है?"

याज्ञवल्क्य—"वह स्वयं सबका उपास्य है। उस देवता का नाम अमृत है। वही तेरा अन्तर्यामी आत्मा अमृत है।"

शाकल्य—"अच्छा, मेरे दूसरे प्रश्न का उत्तर दीजिये। एक देवता है। उसका काम (स्त्री प्रसङ्ग की अभिलाषा) ही तो शरीर है। हृदय ही उसका लोक है अर्थात् वह हृदय से ही देखता है। और मन रूपी ज्योति से जो देखता है। अर्थात् जो मन से उत्पन्न होता है। जो सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकारण रूप संघात का परायण है अर्थात् जो सम्पूर्ण जीवों का उत्तम आश्रय है। उस

! पुरुष को जो जानता है वास्तव में वही ज्ञाता है। याज्ञवल्क्य ! क्या तुम उस पुरुष को जानते हो ?"

याज्ञवल्क्य—"हाँ, मैं उस पुरुष को जानता हूँ।"

शाकल्य—"यदि जानते हो, तो उसका नाम बताओ।"

याज्ञ०—"शाकल्य ! जिसे तुम समस्त जीवों का आश्रय कहते हो, जिसे सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकारणसघात का परायण बताते हो, उसका नाम काममय पुरुष है। वही यह प्राणब्रह्म है। इसके अतिरिक्त भी तुम्हे और कुछ पूछना हो, तो उसे भी पूछ लो।"

शाकल्य—"उस काममय पुरुष का देवता कौन है ? किसे देखकर वह काममय पुरुष उद्दीपित होता है ?"

याज्ञ०—"उसकी देवता स्त्रियाँ ही हैं। स्त्री को ही देखकर काम की उद्दीपना होती है।"

शाकल्य ने कहा—"मेरे दो प्रश्नों का तो आपने यथार्थ उत्तर दे दिया। अब तीसरा प्रश्न पूछूँ ?"

याज्ञ०—"पूछिये।"

शाकल्य—"अच्छा, बताइये। रूप ही जिसके शरीर हैं। और नेत्र ही जिसका लोक है अर्थात् उसके देखने का साधन नेत्र ही है। नेत्र द्वारा ही वह देखता है। मन रूप ज्योति से ही सकल्प विकल्प करता है। वह सम्पूर्ण जीवों का उत्तम आश्रय है, उस पुरुष का जानने वाला ही वास्तविक ज्ञाता है। याज्ञवल्क्य ! तुम उस पुरुष को जानते हो ?"

याज्ञ०—"हाँ, मैं उस पुरुष को जानता हूँ।"

शाकल्य—"यदि जानते हो, तो उसका नाम बताइये।"

याज्ञ०—"उस पुरुष का नाम आदित्य है। वह आदित्य

और कोई नहीं वह यही प्राणब्रह्म है। क्यों, है न ? इसके अति-
रिक्त और कुछ पूछना चाहते हो तो उसे भी पूछ डालिये।"

शाकल्य—"उस आदित्य पुरुष का देवता कौन है ?"

याज्ञ०—"उसका देवता 'सत्य' ही है। और कुछ पूछोगे ?

शाकल्य—"हाँ, मेरा चौथा प्रश्न है। जिसका शरी
आकाश है। श्रोत्र उसके दर्शन के साधन हैं, अर्थात् श्रोत्रों द्वा
ही वह सम्पूर्ण शब्दों को सुनता है। मन रूप ज्योति से सङ्कल्प
विकल्प करता है, सभी जीवों का सर्वोत्तम आश्रय है वह पुर
कौन है ? उसे जो भली भाँति जानता है वही ज्ञाता है। याज्ञ-
वल्क्य ! तुम उस पुरुष को क्या जानते हो ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—हाँ, मैं उस पुरुष को जानता हूँ।"

शाकल्य—"अच्छा, तो उसका नाम निर्देश कीजिये ? ना
बताइये।"

याज्ञ०—"उसका नाम है प्रातिश्रुत्क पुरुष अर्थात् प्रतिध्व
विशिष्ट पुरुष। वह और कोई नहीं है वह यही प्राणब्रह्म है
तुम्हारी शका का समाधान हुआ या नहीं ? इसके अतिरिक्त
तुम्हें जो पूछना हो, उसे भी पूछ लीजिये।"

शाकल्य—"उस प्रातिश्रुत्क पुरुष का देवता कौन है ?"

याज्ञ०—"ये दशों दिशायें ही उसके देवता हैं। अर्था
श्रोतव्यशब्द दिशाओं द्वारा ही सुने जाते हैं।"

शाकल्य ने कहा—"मेरा पाँचवाँ प्रश्न और है।"

याज्ञ०—"उसे भी पूछ डालिये।"

शाकल्य—"एक देवता है। उसका अधकार ही शरीर है
हृदय ही उसका लोक है अर्थात् हृदय द्वारा ही वह देखता है
उसके देखने का साधन हृदय ही है। वह सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य
कारण समूह का परायण है अर्थात् सभी जीवों का उत्तम आश्रय

है, जो पुरुष उस तमोमय पुरुष को जानता है वही ज्ञाता है। बोलो, तुम उस पुरुष को जानते हो ?"

याज्ञ०—"हॉ, मैं उस पुरुष को जानता हूँ।"

शाकल्य—"अच्छा, तो उसका नाम बतेयो ?"

याज्ञ०—"उस पुरुप का नाम है छाया पुरुप। क्यों है न ? और पूछिये, क्या पूछना चाहते हैं ?"

शाकल्य—"मैं उसके देवता का नाम और पूछना चाहता हूँ।"

याज्ञ०—"उस छाया पुरुप के देवता का नाम है मृत्यु। वह मृत्यु भी कोई और नहीं। उस प्राणब्रह्म परमात्मा का ही नाम मृत्यु है। (मृत्युः सर्व हरश्चाहम) और भी कुछ पूछना अवशेप है ?"

शाकल्य—"मेरा छटा प्रश्न यह है, कि एक देवता है। रूप ही जिसका शरीर है नेत्र ही उसका लोक है, मन ही ज्योति है, सम्पूर्ण जीवों का वह आश्रय है। जो पुरुप उसे भली-भॉति जानता है। वही वास्तविक ज्ञाता है उसे तुम जानते हो ?"

याज्ञ०—"क्यों नहीं जानते। वह दर्पण में दीखने वाला छाया पुरुप है। वही यह प्राणब्रह्म है। और पूछो ?"

शाकल्य—"उसके देवता का नाम ?"

याज्ञ०—"उसके देवता का नाम 'असु' प्राण है। वह प्राण-ब्रह्म ही है।"

शाकल्य—"मेरा सातवॉ प्रश्न यह है, जल ही जिसका शरीर है। हृदय ही जिसका लोक है, मन ही ज्योति है सम्पूर्ण अध्यात्म कार्यकारण सघात जिसका परायण है। अर्थात् समस्त जीव जिसके आश्रय हैं। उस पुरुप को जानने वाला ही ज्ञाता

है। याज्ञवल्क्य ! तुम तो उसे बिना जाने ही पंडित होने का अभिमान कर रहे हो। यदि तुम उसे जानते हो तो बताओ ?"

याज्ञ०—"मैं उसे अच्छी प्रकार जानता हूँ उसका नाम जल-पुरुष है। वह जलपुरुष भी प्राणब्रह्म के अतिरिक्त कोई नहीं। अब और भी कुछ पूछना शेष है ?"

शाकल्य—"उसके देवता का नाम और बता दो ?"

याज्ञ०—"इतना भी तुम नहीं जानते। जलपुरुष के देवता का नाम वरुण है।"

शाकल्य—"अब मेरा एक प्रश्न और अवशेष है।"

याज्ञ०—"उसे भी पूछ ही डालो। उसे क्यों शेष रखते हो ?"

शाकल्य—'मेरा आठवाँ प्रश्न यह है, कि एक देवता है, वीर्य ही उसका शरीर है। हृदय ही उसका लोक है। मन ज्योति है। जो भी उस पुरुष को सम्पूर्ण अध्यात्म कार्यकारण संघात का आश्रय जानता है। वही वास्तव में ज्ञाता है। याज्ञवल्क्य ! तुम यदि उसे जानते हो, तो कहो ?"

याज्ञ०—"हाँ, मैं उस पुरुष को जानता हूँ वह आत्मा वै जायते पुत्र ही है। वह पुत्र रूप पुरुष है। वह और कोई नहीं। वह यही प्राण रूप ब्रह्म है। क्यों है न ? अब आगे तुम्हें जो भी कुछ और पूछना हो, उसे भी पूछो।"

शाकल्य—"उस पुत्र रूप पुरुष का देवता कौन है ?"

याज्ञ०—"उसका देवता प्रजापति ही है। प्रजापति के संकल्प से ही समस्त सतानें होती हैं। वह प्रजापति ही पुत्र रूप में पैदा होता है। मैंने तुम्हारे आठों प्रश्नों का उत्तर दे दिया। इनके अतिरिक्त तुम्हें और भी जो पूछना हो पूछो। हाँ, एक बात बताये देता हूँ। तुम अपनी कुशल मनाओ। देखो, इन सभासद

विद्वान् ब्राह्मणों ने तुम्हे ही बलिदान का बकरा बनाकर व्यर्थ मे तर्कवाद करने को मेरे सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है। इन ब्राह्मणों ने निश्चय ही तुम्हे प्रज्वलित अग्नि मे से अगारे निकालने का चिमटा बना रखा है। यदि उससे अग्नि निकल आयी, तो उसका श्रेय ये सब लूट लेंगे। न निकल सका तो जलेगा तो चिमटा ही, इन सब का कुछ भी नहीं बिगड़ेगा।'

यह सुनकर पदाहत विषधर सर्प की भाँति क्रुद्ध होकर शाकल्य मुनि ने कहा—'याज्ञवल्क्य ! तुम ऐसा व्यङ्गपूर्ण आक्षेप करके इन कुरुपाञ्चाल देशीय विद्वान् ब्राह्मणों पर घोर आक्षेप कर रहे हो। तुम अपने को इन सब विद्वान् ब्राह्मणों से अधिक ब्रह्मवेत्ता लगाते हो ? क्या तुम अपने को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म निष्ठ मानकर ऐसा आक्षेप करते हो ? तुममे ऐसा कौन सा ब्रह्मज्ञान है, जिसके कारण तुम ऐसी बढ बढकर बातें बना रहे हो ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—' मुझमे विशेषता तो कुछ नहीं है। हा, मैं इतना ज्ञान अवश्य रखता हूँ, कि किस दिशा म कौन से देवता की प्रतिष्ठा है। मैं देवता और प्रतिष्ठा सहित दिशाओ का ज्ञान रखता हूँ।"

शाकल्य मुनि ने कहा—"अच्छी बात है, अब मैं आप से देवता और प्रतिष्ठा सहित दिशाओं के ही सम्बन्ध में प्रश्न पूछूँगा।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"बहुत अच्छी बात है आप पूछिये मैं उसका उत्तर दूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! अब जैसे शाकल्य मुनि देवता और प्रतिष्ठा सहित दिशाओ के सम्बन्ध में प्रश्न पूछेंगे

और याज्ञवल्क्य जी उनका जैसे उत्तर देंगे, उस प्रसङ्ग को आगे कहूँगा।"

छप्पय

मृत्यु तासु को देव रूप आयतन कहो अब?
दर्पण भीतर पुरुष 'असु' हि है देव तासु अब।।
जल जाको आयतन लोक हिय ज्योति मनहु को?
वह है जल में पुरुष वरुण है तासु देव सो।।
वीर्य आयतन जासु है, और पूर्व ही सरिस सब।
पुत्र रूप वह पुरुष है, देव प्रजापति तासु अब?

याज्ञवल्क्य और शाकल्य का शास्त्रार्थ (३)

[२४१]

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिद कुरुपाञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति दिशो वेद सदेवाः सप्रतिष्ठा इति पद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ।।*

(वृ० उ० ३ अ० ९ ब्रा० १९ म०)

छप्पय

याज्ञवल्क्य पुनि कह्यो, सुनो शाकल्य महामुनि ।
चिमटा तुम्हें बनाइ आगि तें खेलें द्विजगन ।।
भये क्रुद्ध शाकल्य कहें अपमान करत द्विज ।
कुरु पाञ्चालनि मध्य कहो वरिष्ठ विज्ञ निज ।।
याज्ञवल्क्य बोले—सकल, दिशनि प्रतिष्ठा सुर सहित ।
जानूँ, पूछौ शङ्क यदि, सुनि पुनि शाकल्यहु कहत ।।

---

* शाकल्य ने कहा—"याज्ञवल्क्य ! कुरु पाञ्चाल देशीय इन विद्वान् ब्राह्मणो पर जो तुम अतिवादी होने का आक्षेप कर रहे हो सो क्या तुम ब्रह्म को जानते हो ?' याज्ञवल्क्य बोले—' दिक अधिष्ठातृ देवो को दिशा के सहित प्रतिष्ठा के सहित मैं जानता हूँ।' इस पर शाकल्य ने कहा—'यदि देवता तथा प्रतिष्ठा सहित तुम दिशाम्रा को जानते हो, तो (मैं जा पूछूँ उसका उत्तर दीजिय) ।

लोक में मनुष्य बाह्य ज्ञान प्राप्त करने को व्याकुल रहते हैं। अमुक देश में क्या है ? अमुक लोक में क्या है ? अमुक काय कैसे होता है ? हम कहते हैं, भैया ! बाहर की वस्तुओं की ज्ञान कारी पीछे करना पहिले तो जो साढ़े तीन हाथ का यह तुम्हारा शरीर रूप यन्त्र है उसी की जानकारी प्राप्त कर लो। जो इस शरीर रूपी पिंड में है वही समस्त ब्रह्माण्ड में भी है। जिसने इस शरीररूपी यन्त्र के विषय में जान लिया उसने सब कुछ जान लिया है,इसके विपरीत जिसने शरीर यन्त्र की जानकारी तो प्राप्त की नहीं बाहरी ज्ञान बहुत कुछ प्राप्त कर लिया तो उसका ज्ञान अधूरा है, वास्तव में उसने कुछ भी नहीं जाना है।

हमारा यह शरीर है क्या ? इसके तीन भाग कर लो। एक सिर का विभाग, दूसरा नाभि पर्यन्त और तीसरा नाभि के नीचे। सिर के भाग खोपड़ी से कन्धों के ऊपर तक समझो। यह एक साढ़े तीन हाथ का ढाँचा है। बाँस रूपी दो पैरों पर यह पूरा शरीर अवस्थित है दो पैर जहाँ से जुड़े हैं। उन्हें जघन कहते हैं। उसके ऊपर पेट पीठ युक्त गुदा से लेकर कन्धों तक कबन्ध है। कन्धों से दो हाथ इधर-उधर निकले हैं। ऊपर गर्दन है उस पर कपाल खोपड़ी शिर रखा है। शिर के ऊपर बाल होते हैं। गंजा के शिर पर बाल नहीं होते हैं। यह रोग है। सामान्यतया सिर पर बाल होते हैं, इससे नीचे का भाग मस्तक कहलाता है। मस्तक के नीचे बाल हैं जो भौंह कहलाते हैं। उसके नीचे दो आँखें हैं। आँखों की सीध में खोपड़ी के दायें बायें दो कान निकले हुए हैं। आँखों के नीचे दो कपोल हैं। दोनों आँखों और दोनों कपोलों के बीच में नाक है उसमें दो छेद हैं। नाक के नीचे मुख है। उसमें ऊपर नीचे दो किवाड़ें ओष्ठ हैं। वे दोनों ओष्ठ मानों मुख रूपी घर के द्वार की किवाड़े हैं। दोनों ओठों को बन्द

कर दिया। मुख रूपी द्वार बन्द हो गया ओठों को खोल दिया, मुख रूपी दरवाजा खुल गया। मुख के भीतर ऊपर नीचे दो मसूड़े हैं। उनमें ऊपर नीचे प्रायः बत्तीस दाँत होते हैं। बहुत छोटे बच्चों के और बहुत बूढ़ों के दाँत नहीं होते। बच्चों के तो निकलते ही नहीं बूढ़ों के निकल कर गिर जाते हैं। एक बिना हड्डी की मांस का बनी जीभ होती है। वह बोलने, खाये हुए का स्वाद लेने और निगलने का काम देती है। एक मास की घंटी लटकी रहती है, जिसे काग कहते हैं। मुख के बाहर ठोढ़ी होती है। पुरुषों के उसमें दाढ़ी आती है ऊपर के ओठ पर मूँछ आती हैं। छोटे बच्चों के, स्त्रियों के, दाढ़ी मूँछ नहीं होती रोयें होते हैं। ठोढ़ी के नीचे कण्ठ होता है, उसमें एक हड्डी घुंटी निकली रहती है। कन्धों और कपाल को गर्दन (नार) मिलाती है। दोनों कन्धों के इधर-उधर दो हाथ होते हैं। हाथों में बाजू, कुहनी, हाथों की हथेली, गद्दी, पाँच-पाँच उँगलियाँ होती हैं। कंठ के नीचे छाती होती है। उसमें दो स्तन होते हैं। पुरुषों के छोटे और स्त्रियों के बड़े होते हैं। छाती के नीचे सामने पेट होता है। पीछे पीठ होती है। पेट के बीच में नाभि होती है। नाभि के नीचे मल मूत्र द्वार होते हैं। स्त्री-पुरुष सम्बन्धी पृथक्-पृथक् आकृति वाले चिन्ह होते हैं। दो पीछे जघन होते हैं उनमें दो पैर जुड़े होते हैं। पैरों में जानु, ऊरु, घुटने, टखने, पंजे, पादतल और पाँच-पाँच उँगलियाँ नखों सहित होती हैं। यही मानव शरीर कहलाता है। शरीर के भीतर एक हृदय होता है। यह हृदय दोनों स्तनों के बीच में स्तनों से कुछ नीचे और नाभि से एक बिलस्त ऊपर होता है। हाथ की मुट्ठी बाँधने से जैसा आकार बनता है, लगभग उसी आकार का यह मांस का बना हृदय नाम का भीतरी अङ्ग है। नीचे मुख किये हुए लाल कमल कोश के सदृश अधोनिष्ठा

से युक्त मांस पिंड वाला यह हृदय है। यह हृदय ही शरीर के भीतर मुख्य अंग है इसी में प्राण रहते हैं, इसी मे जीव रहता है, इसी मे अन्तर्यामी परब्रह्म निवास करता है। हृदय मे प्राण धड़कते रहते हैं। यही जीवन का चिन्ह है। प्राणों की धड़कन बन्द हो जाय तो समझो जीवात्मा इस शरीर का परित्याग कर गया। योगी लोग इसे हृदय से ले जाकर मूर्धा मे स्थापित कर लेते हैं। वह उनकी समाधि अवस्था होती है।

शरीर मे प्राण ही मुख्य हैं। प्राण मे इस सम्पूर्ण शरीर की तथा हृदय की इन दोनो की प्रतिष्ठा है। अर्थात् प्राण के बिना शरीर तथा हृदय दोनों व्यर्थ हैं। प्राण का मुख्य स्थान तो हृदय ही है किंतु मुख और नासिका से निकलता हुआ आँखों मे और कानों मे स्थित होता है। प्राण न हों तो न आँखें देख सकती हैं, न कान सुन सकते हैं, और न नासिका गंध ग्रहण कर सकती है। वह प्राण भी अपान में प्रतिष्ठित है। अपान वायु गड़बड़ हो जाय तो प्राणो की गति भी अस्त-व्यस्त हो जाय, शरीर भी स्वस्थ न रह सके अतः प्राणों से भी अधिक महत्व अपान का है। यह अपान वायु यद्यपि मूल प्राण का अनुवर्ती है, तथापि प्राण इनमें प्रतिष्ठित हैं। यह अपान वायु गुदा मे रहकर मल और मूत्र तथा अपान वायु को बाहर फेंकता है। यह अपान भी व्यान मे प्रतिष्ठित है। यह व्यान भी मुख्य प्राण का अनुवर्ती है। व्यान वायु शरीर की समस्त नाड़ियों मे घूमता रहता है। शरीर में छोटी-बड़ी बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ हैं। इन सबमें विचरते रहने का काम व्यान वायु का है। व्यान भी उदान मे प्रतिष्ठित है। यह उदान वायु बहत्तर करोड़ नाड़ियों से पृथक् जो सर्वश्रेष्ठ सुषुम्ना नाड़ी है उसमें ऊर्ध्वमुख होकर विचरण करता है। यह उदान कर्मानुसार जीवों को स्वर्ग, नरक तथा पृथ्वी लोकों मे ले

जाता है। यह उदान भी समान वायु मे प्रतिष्ठित है। प्राण ऊपर की ओर खाचता है, अपान नाचे की ओर। यह समान वायु शरीर के मध्य मे रहकर प्राण अपान के सतुलन को समान रूप से रखे रहता है। यह अन्नपान के रस को समान भाव से सम्पूर्ण शरीर में पहुँचाता रहता है। ये सबके सब पाँचों प्राण परब्रह्म परमात्मा मे प्रतिष्ठित हैं। अतः सबकी प्रतिष्ठा ब्रह्म मे है। जो ब्रह्म का जानता है, वह सब कुछ जान लेता है।

सूतजी कहते हैं —"मुनियो! जब देवता और प्रतिष्ठा सहित दिशाओं का ज्ञाता याज्ञवल्क्यजी ने अपने को बताया, तब शाकल्य मुनि ने उनसे पूछा—"याज्ञवल्क्यजी! यदि तुम देवता और प्रतिष्ठा सहित दिशाओं का ज्ञान रखते हो, तो बताओ पूर्व दिशा में तुम किस देवता से युक्त हो, अर्थात् पूर्व दिशा मे तुम किस देवता की उपासना करते हो?"

याज्ञ०—"पूर्व दिशा मे मैं आदित्य देवता वाला हूँ, अर्थात् पूर्व दिशा में मैं सूर्य की उपासना करता हूँ।"

शाकल्य—"जिस सूर्य की तुम पूर्व दिशा मे उपासना करते हो वह सूर्य किसमें प्रतिष्ठित है?"

याज्ञ०—"वह नेत्र में प्रतिष्ठित है। अर्थात् विधाता के नेत्र से सूर्य उत्पन्न हुआ है और कार्यकारण में प्रतिष्ठित रहता ही है।"

इस पर शाकल्य ने पूछा—"नेत्र किसमे प्रतिष्ठित है?"

याज्ञ०—"नेत्र तो काले सफेद आदि रूपों मे प्रतिष्ठित हैं, क्योंकि पुरुष नेत्रों द्वारा ही रूपों को देखता है। आँख बन्द करने पर रूप दिखाई नहीं देते।"

शाकल्य—"रूप किसमे प्रतिष्ठित हैं?"

याज्ञ०—"समस्त रूप हृदय मे प्रतिष्ठित हैं। क्योंकि हृदय

द्वारा ही रूपों को जाना जाता है। जो हृदयहीन हैं, वे रूपों की परख क्या कर सकते हैं।"

शाकल्य ने कहा—"याज्ञवल्क्य ! आपका कथन यथार्थ है, वास्तव में बात ऐसी ही है। अब मेरे दूसरे प्रश्न का भी उत्तर दीजिये।"

याज्ञ०—"पूछिये।"

शाकल्य—"दक्षिण दिशा में तुम किस देवता वाले हो ? अर्थात् दक्षिण दिशा में तुम किस देवता की उपासना करते हो ?"

याज्ञ०—"दक्षिण दिशा में मैं सूर्य पुत्र यमराज की उपासना करता हूँ।"

शाकल्य—"वे यमराज किसमें प्रतिष्ठित हैं ?"

याज्ञ०—"वे यज्ञ में प्रतिष्ठित हैं।"

शाकल्य—"वे यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित हैं ?"

याज्ञ—"यज्ञ दक्षिणा में प्रतिष्ठित हैं। दक्षिणा के बिना यज्ञ निष्फल है।"

शाकल्य—"दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है ?"

याज्ञ०—"दक्षिणा श्रद्धा में प्रतिष्ठित है। श्रद्धाहीन दक्षिणा भी निष्फल है।"

शाकल्य—"श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है ?"

याज्ञ०—"श्रद्धा हृदय में प्रतिष्ठित है, क्योंकि श्रद्धा हृदय से ही होती है। हृदय से ही श्रद्धा का परिज्ञान होता है।"

शाकल्य ने कहा—"याज्ञवल्क्य ! आपका कहना यथार्थ है। आप जैसा कहते हैं वैसा ही है। अब मैं तीसरा प्रश्न पूछना चाहता हूँ।"

याज्ञ०—"पूछिये।"

शाकल्य—"अच्छा, पूर्व और दक्षिण दिशाओं का तो आप ने देवता और प्रतिष्ठा सहित यथार्थ उत्तर दे दिया, अब यह बताइये कि पश्चिम दिशा में आप किस देवता वाले हैं ? अर्थात् पश्चिम दिशा के अधिष्ठातृदेव मानकर किस देवता की उपासना करते हैं ?"

याज्ञ०—"पश्चिम दिशा मे मै वरुण की उपासना करता हूँ।"

शाकल्य—"वरुणदेव किसमे प्रतिष्ठित हैं ?"

याज्ञ०—"वरुणदेव जल मे प्रतिष्ठित हैं।"

शाकल्य—"जल किसमे प्रतिष्ठित है ?"

याज्ञ०—"जल वीर्य मे प्रतिष्ठित हैं।"

शाकल्य—"और वीर्य किसमे प्रतिष्ठित है ?"

याज्ञ०—"वीर्य हृदय मे प्रतिष्ठित है। इसीलिये पुत्र माता-पिता के हृदय से उनके अनुरूप ही उत्पन्न होता है। लोग कहा भी करते हैं अजी, मानो उसका हृदय ही है। हृदयज इसीलिये सन्तान कहलाती है कि वीर्य हृदय मे प्रतिष्ठित रहता है। सतान की कामना वाले हृदय से ही वीर्य स्खलित होता है।"

शाकल्य—"याज्ञवल्क्य ! तुम्हारा कथन यथार्थ है। यह इसी प्रकार है। अब मेरा चौथा प्रश्न और है।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"उसे भी पूछिये।"

शाकल्य ने पूछा—"उत्तर दिशा मे तुम किस देवता वाले हो ? अर्थात् उत्तर दिशा के अधिष्ठातृ मानकर किस देवता की उपासना करते हो ?"

याज्ञ०—"उत्तर दिशा मे मैं सोम देवता की उपासना करता हू।"

शाकल्य—"सोमदेव किसमे प्रतिष्ठित है ?"

याज्ञ०—"वे दीक्षा मे प्रतिष्ठित हैं।"

शाकल्य—"दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है ?"

याज्ञ०—"दीक्षा सत्य मे प्रतिष्ठित हैं। क्योंकि दीक्षित पुरुष असत्य भाषण नहीं करता। लोग कहा भी करते हैं- "अब तो आप दीक्षा में हैं सत्य बात हो उसे ही कहिये।"

शाकल्य—"सत्य किसमें प्रतिष्ठित है ?"

याज्ञ०—"सत्य हृदय में प्रतिष्ठित है, क्योंकि सत्यासत्य का निर्णय हृदय ही करता है।"

शाकल्य—"आपका कथन यथार्थ है। यह बात ऐसी ही है। अब मेरा पाँचवाँ प्रश्न और है।"

याज्ञ०—"उसे भी पूछिये।"

शाकल्य—"चारों दिशायें तो हो गयीं अब यह बताइये, जो स्थिरा ध्रुवा दिशा है अर्थात् नीचे की दिशा-उसमें आप किस देवता वाले हैं ? अर्थात् नीचे की दिशा में आप किस देव की उपासना करते हैं ?"

याज्ञ०—"नीचे की दिशा मे मैं अग्निदेव की उपासना करता हूँ।"

शाकल्य—"अग्निदेव किसमे प्रतिष्ठित हैं ?"

याज्ञ०—"वाणी मे।"

शाकल्य—"वाणी किसमें प्रतिष्ठित है।"

याज्ञ०—"हृदय मे।"

शाकल्य—"आप सभी को हृदय में ही प्रतिष्ठित बताते हैं, अच्छा बताइये हृदय किसमें प्रतिष्ठित है ?"

इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्यजी को क्रोध आ गया। वे बोले—"अरे, प्रेत ! हृदय और हम दो हैं क्या ? जिस समय तुम हमको और हमारे हृदय को पृथक् मानते हो और यदि

इमसे हृदय पृथक् हो जाय, तो फिर इस शरीर को कुत्ते खा जायँगे अथवा पक्षी नोच-नोच कर खा जायँगे। हृदयात्मा तो शरीर में ही निवास करता है। हृदय की प्रतिष्ठा तो हृदय में ही है। मुझमें शरीर में ही हृदय प्रतिष्ठित है।"

शाकल्य—"तुम अर्थात् शरीर आत्मा अर्थात् हृदय ये दोनों किसमें प्रतिष्ठित हैं ?"

याज्ञ०—"हृदय में प्राण और देह प्रतिष्ठित है। और देह और हृदय प्राण में प्रतिष्ठित है।"

शाकल्य—"देह हृदय तो प्राण में प्रतिष्ठित हैं, यह बताओ प्राण किसमें प्रतिष्ठित है।"

याज्ञ०—"फिर से तुम उलटे प्रश्न कर रहे हो, अच्छी बात है, करो। फिर से मैं भी अपने पुराने उत्तरों को दुहराऊँगा। प्राण अपान में प्रतिष्ठित है।"

शाकल्य—"अपान किसमें प्रतिष्ठित है ?"

याज्ञ०—"व्यान में।"

शाकल्य—"व्यान किसमें प्रतिष्ठित है ?"

याज्ञ०—"उदान में।"

शाकल्य—"उदान किसमें प्रतिष्ठित है ?"

याज्ञ०—"समान में।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जब शाकल्य पुनः पुनः प्रश्नों को दुहराते गये। और वे चुप ही न हुए, तब श्रुति स्वयं ही बताती है। शरीर, हृदय, प्राण ये परस्पर में प्रतिष्ठित हैं। ये सब जिस एक में प्रतिष्ठित हैं, जिसमें आकाश पर्यन्त ये सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च ओत प्रोत है, वह ब्रह्म कैसा है, उसे श्रुतियाँ नेति-नेति ऐसा कहकर ही निरूपण करती हैं। वह आत्मा अगृह्य है। अर्थात् वह किसी द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है। वह

अशीर्य है–अर्थात् वह कभी भी नष्ट नहीं होता। वह असङ्ग है अर्थात् वह किसी में आसक्त नहीं होता। वह असित है–अर्थात् वह किसी से व्यथित और हिंसित नहीं होता। ऐसा वह आत्म है। उसके सम्बन्ध में शाकल्य का प्रश्न व्यर्थ है। शाकल्य जो उसके निरूपण के सम्बन्ध में पूछते हैं, तो उनका यह अति प्रश्न है। यही सब सोचकर याज्ञवल्क्यजी ने शाकल्य से कहा– "देखो, शाकल्य! अब तुम बहुत पूछ चुके अब अतिप्रश्न मत करो। अब मैं तुमसे एक प्रश्न पूछता हूँ।"

शाकल्य ने कहा—"पूछिये।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"तुम्हारे पूछने पर मैंने (१) पृथ्वी (२) काम, (३) रूप, (४) आकाश, (५) तम, (६) रूप, (७) जल और (८) रेत ये आठ आयतन शरीर–बताये या नहीं?"

शाकल्य—"हाँ बताये।"

याज्ञवल्क्यजी—"(१) अग्नि, (२) हृदय, (३) चक्षु, (४) श्रोत्र (५) तम, (६) चक्षु, (७) हृदय और (८) हृदय ये -ये आठ लोक दर्शन साधन–बताये या नहीं?"

शाकल्य—"हाँ बताये।"

याज्ञवल्क्य—"(१) अमृत, (२) स्त्री, (३) सत्य, (४) दिशायें (५) मृत्यु, (६) असु, (७) वरुण और (८) प्रजापति ये आठ देव बताये या नहीं?"

शाकल्य—"हाँ, बताये।"

याज्ञ०—"(१) शारीर पुरुष, (२) काममय पुरुष, (३) आदित्य पुरुष, (४) प्रातिश्रुत्क पुरुष, (५) छाया पुरुष, (६) आदर्श पुरुष, (७) जलमय पुरुष और (८) पुत्रमय पुरुष ये आठ पुरुष बताये थे या नहीं।"

शाकल्य—"हाँ बताये थे।"

याज्ञ०—"तो देखो, जो ये आठ आयतन हैं, आठ लोक हैं, आठ देव हैं और आठ पुरुष हैं, इन बत्तीसों को भली-भाँति जानकर उनको अपने हृदय में स्थापित करके, जितने भी उपाधि युक्त धर्म हैं उन सबका अतिक्रमण करके जो पुरुष अवस्थित है और जो औपनिषद् पुरुष कहा जाता है। अर्थात् जो उपनिषदों द्वारा ही जाना जाता है, जिसे अन्य किसी भी प्रमाण से जान नहीं सकते उस पुरुष के सम्बन्ध मे ही मैं तुमसे प्रश्न करता हूँ। क्या तुम उस पुरुष को जानते हो? तुम विद्या के मद मे भरकर मुझसे अनेकों प्रश्न पूछते गये। मैं तो तुम से केवल एक ही प्रश्न पूछता हूँ, जो तत्त्व सम्पूर्ण कार्य वर्ग से विलक्षण है, जो केवल शास्त्रों के द्वारा ही समधिगम्य है, वेद जिसे नेति-नेति कह कर कथन करत हैं, उस पुरुष को तुम जानते हो, तो मुझसे कहो। मेरा प्रश्न उसी औपनिषद् पुरुष के सम्बन्ध मे है। यदि तुम उसे बिना जाने मुझसे कहोगे, उसका स्पष्टतया निरूपण न कर सकोगे, तो तुम्हारा सिर धड से पृथक् होकर गिर जायगा। अब अधिक वाद विवाद की आवश्यकता नहीं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! शाकल्य मुनि उस परात्पर तत्त्व से अनभिज्ञ थे। वे उस उपनिषदेकगम्य परम तत्त्व को नहीं जानते थे। अतः याज्ञवल्क्जी के वचन से ही सबके देखते-देखते उनका शिर धड़ से पृथक् होकर भूमि पर लोटने लगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! मनुष्य को न तो अपनी विद्या का अत्यधिक अभिमान ही करना चाहिये और न किसी का तिरस्कार अपमान ही करना चाहिये। देखिये, शाकल्य मुनि को अपनी विद्या का बड़ा गर्व था। वे बात बात पर याज्ञवल्क्य मुनि का तिरस्कार करते थे। इससे उनकी अकाल मृत्यु हुई। यही नहीं उनकी सद्गति भी नहीं हुई। मरण के पश्चात् उनके शिष्यों

ने उनके मृतक देह को जलाया। तथा उनकी अस्थियों को सबय करके उन्हें पुण्य प्रदेश में-किसी महान् तीर्थ में-प्रवाहित करने आदर पूर्वक ले जा रहे थे। मार्ग में लुटेरे दस्यु मिले। उन्होंने समझा ये कोई बहुमूल्य वस्तु लिये जा रहे हैं, अतः उन्होंने उसे लूट लिया। जब देखा होगा, ये अस्थियाँ हैं तो किसी अपवित्र प्रदेश में फेंक दिया होगा। इस प्रकार न तो उनकी मृत्यु ही किसी पुण्य प्रदेश में हुई और न उनकी अस्थियाँ ही किसी पुण्य तीर्थ में प्रवाहित हो सकीं। ब्रह्मवेत्ता के अपमान का-ज्ञानी पुरुष के तिरस्कार का-उन्हें प्रत्यक्ष फल मिल गया। इस आख्यायिका से यही शिक्षा मिलती है, कि ब्रह्मविद्या ही सर्वश्रेष्ठ विद्या है। ब्रह्मवेत्ता का सम्मान करना ही सबसे बड़ा सदाचार है और ब्रह्मवेत्ता का तिरस्कार ही सबसे बड़ा पाप है।"

इस प्रकार शाकल्य ऋषि के शिरःपात के अनन्तर फिर याज्ञवल्क्यजी से शास्त्रार्थ करने का किसी भी विद्वान् का साहस नहीं हुआ। जब उनसे शास्त्रार्थ करने के लिये कोई भी आगे नहीं बढ़ा तब याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"अब आप में से जो भी चाहे मुझसे प्रश्न करे अथवा आप सभी मिलकर मुझसे जो चाहे पूछें।" इतने पर भी जब कोई प्रश्न करने को आगे नहीं आया, तब जैसे याज्ञवल्क्यजी सबसे प्रश्न करेंगे, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

(१)

पूरब रवि सुर नेत्र रूप हिय माहिँ प्रतिष्ठित।
दक्खिन यमपुर यज्ञ, दक्षिणा, श्रद्धा, हिय तत॥
पच्छिम सुर हैं वरुन नीर, वीरज, हिय माहीं।
उत्तर सुर है सोम सु-दीक्षा सत हिय पाहीं॥
ध्रुव दिशा में अग्नि सुर, वाक हिये में प्रतिष्ठित।
हियो कौन में प्रतिष्ठित? हिय बिनु तन की नहिँ सुगति॥

(२)

तनु, हिय कामें ? प्राण, प्राण हू बसि अपान में ।
व्यान माहिँ सोहू उदान वह बसि, समान में ॥
आत्मा सतत अगृह्य असग अशीर्य कहायो ।
आठ लोक आयतन पुरुषमय देव बतायो ॥
ता पुरुषहिँ जाने बिना, मस्तक तव गिरि जायगो ।
मस्तक शाकल्यहिँ गिरयो, हड्डी चोर चुराइगो ॥

पंडितों से याज्ञवल्क्य के शास्त्रार्थ की समाप्ति

[२४२]

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स म
पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते त वः पृच्छामि
सर्वान् वा वः पृच्छामीति ते ह ब्राह्मणा न दधृषु ॥*

(बृ० उ० ३ अ० ९ ब्रा० २७ मं०)

छप्पय

याज्ञवल्क्य तब कहें—विप्रगन ! सम्मुख आओ ।
जो कछु पूछन चहो पूछि निज शक मिटाओ ॥
यदि नहिं पूछें आपु प्रश्न तुम तें हौं करिहौं ।
उत्तर दै नहिं सको, गाय सब लै हौं चलि हौं ॥
साहस नहिं विप्रनि भयो, बैठे सब चुप मारिकें ।
याज्ञवल्क्य पूछन लगे, छै श्लोकनि हिय धारिकें ॥

---

* शाकल्य विदग्ध के शिर गिर जाने के अनन्तर महर्षि याज्ञवल्क्य-जी ने विदेहराज की सभा में समुपस्थित सदस्यों को सम्बोधित करके कहा—"हे षडैश्वर सम्पन्न विप्रवृन्द ! आप लोगों में से जो भी कोई मुझसे कुछ पूछना चाहे पूछे अथवा आप सभी मिलकर मुझसे पूछें। यदि आप न पूछें तो मैं पूछता हूँ। आप में से कोई या सभी मिलकर मेरे प्रश्नों का उत्तर दें। इतने पर भी किसी का भी प्रत्युत्तर देने का साहस नहीं हुआ।"

संसार एक बड़ा वृक्ष है। जैसे वृक्ष बीज से उत्पन्न होता है, वैसे ही यह संसार वृक्ष परब्रह्म परमात्मा से पैदा हुआ है। परब्रह्म सनातन हैं उन्हें किसी ने उत्पन्न नहीं किया है। जैसे बीजरूप परमात्मा सनातन हैं। वैसे ही उनसे उत्पन्न हुआ यह जगत् रूप वृक्ष भी सनातन है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी जब माता देवकी के गर्भ में आये, तब देवताओं ने गर्भस्थ सनातन प्रभु की सनातन वृक्ष के साथ तुलना करके ही उनकी स्तुति की। देवताओं ने बताया-आप प्रभो! सनातन-सदा से रहने वाले बीज हैं। उस बीज से यह सनातन वृक्ष प्रकट हुआ है। इस वृक्ष का आश्रय मूल प्रकृति है। इस वृक्ष पर सुख और दुख दो ही फल लगते हैं। वृक्ष की बहुत सी नीचे जड़े होती हैं, तो इस सनातन संसार वृक्ष की सत्त्व, रज और तमरूपा तीन ही जड़े हैं। वृक्ष में रस होता है जो सब वृक्ष को हरा भरा रखता है। इस संसार रूप वृक्ष में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार प्रकार के रस हैं। वृक्ष के जानने की विधायें होती हैं, तो इसे जानने की विधाप्रकार-श्रोत, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका ये पाँच हैं। वृक्ष का अपना स्वभाव होता है। इस संसार वृक्ष के भी उत्पत्ति, वृद्धि, परिवर्तित, घटना और लोप हो जाना-अदर्शन होना -ये छैः स्वभाव हैं। वृक्ष में छाल होती है। इस संसार रूप सनातन वृक्ष की रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सात धातुएं ही सात प्रकार की छालें हैं। वृक्ष में शाखायें होती हैं। इस संसार वृक्ष की पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ शाखायें हैं। वृक्षों में पक्षी आदि खोंतरे बना लेते हैं। इस संसार वृक्ष रूप देह में जो दो आखों के, दो कानों के, दो नासिका के, एक मुख का, एक मल द्वार और मूत्र द्वार के जो नौ छिद्र हैं, वे ही मानो नौ खोंतरे हैं। वृक्ष में पत्ते

होते हैं, इस ससार रूप देह वृक्ष मे प्राण, अपान उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय ये दश प्राण ही मानो दश पत्ते हैं, इस ससार रूप देह वृक्ष पर जीव और ईश्वर दो ही पक्षी रहते हैं। इस वृक्ष की उत्पत्ति के एकमात्र आधार परब्रह्मपरमात्मा पुरुषोत्तम आप ही हैं, आप में ही इसका सन्निधान–लोप–है और आपके ही अनुग्रह से इसकी सतत रक्षा हो रही है।

इस प्रकार इस जगत् के मूल कारण प्रकृति और पुरुष से भी परे जीव के भी स्वामी पुरुषोत्तम प्रभु हैं। जिन्होंने उन पुरुषोत्तम को जान लिया, उन्होंने सब कुछ जान लिया जिन्होंने उसे नहीं जाना, उसने कुछ भी नहीं जाना।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब शाकल्य विदग्ध का सिर धड़ से पृथक् होकर गिर गया, तब याज्ञवल्क्यजी ने जनक सभा के सभी सभासदों को विनौती देते हुए कहा—"परम पूजीय ब्राह्मणो! अब आप मे से एक एक या सभी मिलकर मुझसे जो पूछना चाहें पूछें, मैं आपके प्रश्नों का उत्तर दूँगा। अथवा मैं ही आप से प्रश्न करता हूँ, उसका उत्तर आप में से कोई भी एक दे अथवा आप सभी मिलकर मेरे प्रश्न का उत्तर दे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार विनौती देने पर भी अब किसी भी विद्वान् का कुछ भी कहने का साहस नहीं हुआ। तब याज्ञवल्क्यजी ने सात श्लोकों द्वारा एक प्रश्न किया। याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखो, ब्राह्मणो! वट पीपर तथा पाकरादि वृक्ष जिन धर्मों से युक्त होते हैं, उन्हीं धर्मों से युक्त यह पुरुष भी होता है। इसमे कोई सदेह की बात नहीं। सर्वथा सत्य बात है।

आप पूछेंगे—"पुरुष की और वृक्ष की समता कैसे है?"

तो सुनिये। वृक्षों में पत्ते होते हैं। उसी प्रकार इस पुरुष

शरीर में भी रोम होते हैं। मनुष्य शरीर में ऊपर त्वचा (चमड़ी) होता है। इसी प्रकार वृक्षों में छाल हुआ करती है।

पुरुष के शरीर को काटो तो उसकी त्वचा में से रक्त बहने लगेगा। इसी प्रकार वृक्ष की त्वचा कट फट जाने पर उसमें से निर्यास- उत्पट गोंद निकलता है। एक दूसरी समता और भी है, वृक्ष को काटो या किसी भी प्रकार उसमें आघात लग जाय, तो उसमें से एक रस का भाँति एक द्रव पदार्थ बहने लगता है, उसी प्रकार पुरुष के शरीर में चोट लग जाय, किसी शस्त्र से कट जाय तो उसमें से रक्त प्रवाहित होने लगता है।

जैसे पुरुष के शरीर में मांस होता है, उसी प्रकार वृक्ष की छाल के भीतर गूदा होता है, जिसे क्निाट कहते हैं, वह स्नायु की ही भाँति स्थिर होता है। जिस प्रकार पुरुष के स्नायु जाल के भीतर अस्थियाँ हड्डियाँ होती हैं, उसी प्रकार वृक्ष के गूदा-क्निाट के भीतर दारुकाष्ठ होता है। जैसे पुरुष शरीर में अस्थि के अनन्तर मज्जा होता है। वैसे ही वृक्षों में भी मज्जा होता है। इसी प्रकार वृक्ष और पुरुष की बहुत अंशों में समता है।

यदि वृक्ष को जड के ऊपर से काट दिया जाय, तो वह पुनः अंकुरित होकर नवीन होकर वृक्ष बन जाता है। इसी प्रकार आप लोग बतावें मनुष्य को भी मृत्यु काट डाले, तो वह किस मूल से उत्पन्न होगा ?

आप यदि कहो मनुष्य पुन वीर्य से उत्पन्न हो जाता है। तो यह तो वृक्ष के सादृश्य में कहना उचित न होगा। क्योंकि वीर्य से–बीज से–तो सभी उत्पन्न होते हैं हैं। वीर्य तो जीवित पुरुष से ही उत्पन्न होता है। वृक्ष तो कट जाने पर भी मूल से पुन. उत्पन्न होता है। वृक्ष काटने पर मूल से भी उत्पन्न होता है और बीज से भी पैदा होता है। बीज से

भी वृक्ष कट जाने पर पुनः उत्पन्न हो जाता है। यदि वृक्ष को मूल सहित उखाड दिया जाय, मूल सहित नष्ट कर दिया जाय, तो समूल उखाडने या नष्ट कर देने के अनन्तर वह पुनः उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि मूल ही उसके उत्पन्न होने का आधार है। इसी प्रकार मनुष्य को मृत्यु छेदन कर दे–काट दे–मार दे, तो वह पुरुष किस मूल से उत्पन्न होगा ? यही मेरा आप सबसे प्रश्न है। मृत्यु के पश्चात् पुरुष को कौन उत्पन्न करेगा ?"

आप कहोगे, कि "पुरुष तो वीर्य से उत्पन्न हो ही गया है। एक बार उत्पन्न होकर वह पुनः नहीं उत्पन्न होता।" तो आपका यह कहना युक्तिसगत यथार्थ है नहीं। मनुष्य तो बार-बार जन्म लेता है, वह तो जन्म लेता ही है। तो मेरा प्रश्न यही है मृत्यु के पश्चात् पुरुष को कौन उत्पन्न करता है ? यदि आप लोग जानते हों, तो उस पुरुष का परिचय दीजिये। उसके सम्बन्ध में कुछ बताइये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! ब्राह्मण लोग मृत्यु के पश्चात पैदा करने वाले के सम्बन्ध मे नहीं जानते थे, अतः वे पराजित होकर चुप हो गये। उन पर इसका कुछ उत्तर ही देते नहीं बना।"

ब्राह्मणों से तो इसका उत्तर दिया नहीं गया। अतः भगवती श्रुति स्वय ही इसका उत्तर देते हुए बता रही है, कि वह पुरुष विज्ञानमय पुरुष है जिसकी उपलब्धि का एकमात्र आश्रय ज्ञान है। वह आनन्दमय पुरुष है। आनन्द ही उसका सच्चा स्वरूप है। वह सबमें व्याप्त, सबसे बढ़ा-चढ़ा परम तत्त्व ब्रह्म ही है। वही उपासना करने वाले उपासकों की, साधन करने वाले साधकों की, पुरुषार्थ करने वाले पुरुषों की एकमात्र गति है। वह यजमान को भी परमागति है। वह परब्रह्म परमात्मा प्रभु ही

को दर्शन देने का जो समय नियत था, उस समय राजा जनक अपने आसन पर बैठकर सबके दुख-सुख सुन रहे थे। याचकों को उनकी इच्छानुसार इच्छित वस्तुओं को दे रहे थे। उसी समय याज्ञवल्क्यजी को अपने यहाँ आया देखकर महाराज ने उनका अभिनन्दन किया। स्वागत सत्कार के अनन्तर हँसते हुए राजा ने पूछा—"कहिये, ब्रह्मन्! आज आपका राजसभा में आना किस अभिप्राय से हुआ? और अधिक गौएँ लेने के निमित्त पधारे हैं, अथवा अणु जीवात्मा आदि सूक्ष्मान्त तत्वों के निश्चय करने के निमित्त?

यह सुनकर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"राजन्! मैं तो दोनों के ही निमित्त आया हूँ। आप गौएँ देंगे, तो उन्हें भी ग्रहण करूँगा। और आप सूक्ष्म तत्वों के सम्बन्ध में प्रश्न करेंगे, तो उनका भी उत्तर दूँगा। आपके यहाँ तो सदा विद्वान् आचार्य आते ही रहते हैं, यदि तुम से किसी आचार्य ने कोई ज्ञान की बात कही हो, किसी प्रकार का उपदेश दिया हो तो उस उपदेश को हमें सुनाइये।"

महाराज जनक ने कहा—"ब्रह्मन्! एक दिन महर्षि शिलिनि के पुत्र जित्वा मुनि कृपा करके मेरे यहाँ पधारे थे। उन्होंने मुझे ब्रह्म का उपदेश दिया था।"

याज्ञ०—"क्या उपदेश किया था?"

जनक—"उन्होंने कहा था-वाक् ही ब्रह्म है।"

याज्ञ०—"उन्होंने जो उपदेश दिया, वह तो सत्य ही दिया उनका उपदेश उसी प्रकार का है जिस प्रकार कोई पुरुष पाँच वर्षों तक तो अपनी विदुषी माता के अनुशासन में रहे, तदनन्तर पिता के अनुशासन में रहे। । जब उपनयन कराकर पिता गुरु-कुल में छोड़ आवे तब समावर्तन संस्कार पर्यन्त आचार्य के

अनुशासन मे रहे। ऐसे पुरुष को मातृमान्, पितृमान् तथा आचार्यवान् कहते हैं। ऐसा मातृमान् पितृमान् तथा आचार्यवान पुरुष जैसे अपने शिष्यों को उपदेश करता है, वैसे ही उपदेश तुम्हें शिलिन पुत्र जित्वा मुनि ने किया है। उनका उपदेश उचित है कारण कि जो तीन प्रकार की शुद्धि के हेतुओ से सयुक्त है ऐसा पुरुष अपने शिष्यों को उपदेश देने मे कभी भी प्रमाण से व्यभिचरित नहीं हो सकता। अतः जित्वा मुनि ने आपका हित समझकर ही उपदेश दिया। वाक् ब्रह्म इसलिये है, कि यदि बोले नहीं मूक बना रहे तो उसे क्या लाभ होगा ? न बोलने से इस लोक सम्बन्धी तथा परलोक सम्बन्धी कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होते। अतः वाक् ब्रह्म है, यह तो निर्विवाद बात है। अब यह बताओ उन जित्वा महर्षि ने उस वाक् ब्रह्म का आयतन–शरीर -क्या है और उसकी प्रतिष्ठा–आश्रय-क्या है, यह बताया या नहीं ?"

जनक—"वाक् ब्रह्म के आयतन–शरीर–और प्रतिष्ठा–आश्रय–के सम्बन्ध में तो उन्होने मुझे कुछ भी नहीं बताया।"

याज्ञ०—"तब तो यह उपदेश सत्य होने पर भी अधूरा है। चार पादों में से एक ही पाद है। जब ब्रह्म का आयतन–शरीर–प्रतिष्ठा–आश्रय–तथा उपास्य रूप ज्ञात न हो, तब तक केवल वाक् ब्रह्म है इतना ही कहने से काम नहीं चलेगा।"

जनक—"यदि उनका ज्ञान अधूरा है, तो उसे आप पूरा करें। यदि उन्होंने एक ही पाद का उपदेश दिया है, तो तीन पादों की पूर्ति आप करें।"

याज्ञ०—"वाक् रूप ब्रह्म का आयतन–शरीर वाणी ही है। वाणी द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। आकाश–नभ- ही उसकी प्रतिष्ठा -आश्रय–है और उसकी उपासना 'प्रज्ञा' रूप से करे।"

को दर्शन देने का जो समय नियत था, उस समय राजा जनक अपने आसन पर बैठकर सबके दुख सुख सुन रहे थे। याचकों का उनकी इच्छानुसार इच्छित वस्तुओं को दे रहे थे। उसी समय याज्ञवल्क्यजी को अपने यहाँ आया देखकर महाराज ने उनका अभिनन्दन किया। स्वागत सत्कार के अनन्तर हँसते हुए राजा ने पूछा—"कहिये, ब्रह्मन्! आज आपका राजसभा में आना किस अभिप्राय से हुआ? और अधिक गौएँ लेने के निमित्त पधारे हैं, अथवा अणु जीवात्मा आदि सूक्ष्मान्त तत्त्वों के निश्चय करने के निमित्त?

यह सुनकर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"राजन्! मैं तो दोनों के ही निमित्त आया हूँ। आप गौएँ देंगे, तो उन्हें भी ग्रहण करूँगा। और आप सूक्ष्म तत्त्वों के सम्बन्ध में प्रश्न करेंगे, तो उनका भी उत्तर दूँगा। आपके यहाँ तो सदा विद्वान् आचार्य आते ही रहते हैं, यदि तुम से किसी आचार्य ने कोई ज्ञान की बात कही हो, किसी प्रकार का उपदेश दिया हो तो उस उपदेश को हमें सुनाइये।"

महाराज जनक ने कहा—"ब्रह्मन्! एक दिन महर्षि शिलिनि के पुत्र जित्वा मुनि कृपा करके मेरे यहाँ पधारे थे। उन्होंने मुझे ब्रह्म का उपदेश दिया था।"

याज्ञ०—"क्या उपदेश किया था?"

जनक—"उन्होंने कहा था--वाक् ही ब्रह्म है।"

याज्ञ०—"उन्होंने जो उपदेश दिया, वह तो सत्य ही दिया उनका उपदेश उसी प्रकार का है जिस प्रकार कोई पुरुष पाँच वर्षों तक तो अपनी विदुषी माता के अनुशासन में रहे, तदनन्तर पिता के अनुशासन में रहे। । जब उपनयन कराकर पिता गुरुकुल में छोड़ आवे तब समावर्तन संस्कार पर्यन्त आचार्य के

अनुशासन में रहे। ऐसे पुरुष को मातृमान्, पितृमान् तथा आचार्यवान् कहते हैं। ऐसा मातृमान् पितृमान् तथा आचार्यवान पुरुष जैसे अपने शिष्यों को उपदेश करता है, वैसे ही उपदेश तुम्हें शिलिन पुत्र जित्वा मुनि ने किया है। उनका उपदेश उचित है कारण कि जो तीन प्रकार की शुद्धि के हेतुओं से संयुक्त है ऐसा पुरुष अपने शिष्यों को उपदेश देने में कभी भी प्रमाण से व्यभिचरित नहीं हो सकता। अतः जित्वा मुनि ने आपका हित समझकर ही उपदेश दिया। वाक् ब्रह्म इसलिये है, कि यदि बोले नहीं मूक बना रहे तो उसे क्या लाभ होगा? न बोलने से इस लोक सम्बन्धी तथा परलोक सम्बन्धी कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होते। अतः वाक् ब्रह्म है, यह तो निर्विवाद बात है। अब यह बताओ उन जित्वा महर्षि ने उस वाक् ब्रह्म का आयतन-शरीर--क्या है और उसकी प्रतिष्ठा-आश्रय-क्या है, यह बताया या नहीं ?"

जनक--"वाक् ब्रह्म के आयतन-शरीर-और प्रतिष्ठा-आश्रय-के सम्बन्ध में तो उन्होंने मुझे कुछ भी नहीं बताया।"

याज्ञ०--"तब तो यह उपदेश सत्य होने पर भी अधूरा है। चार पादों में से एक ही पाद है। जब ब्रह्म का आयतन-शरीर-प्रतिष्ठा-आश्रय-तथा उपास्य रूप ज्ञात न हो, तब तक केवल वाक्ब्रह्म है इतना ही कहने से काम नहीं चलेगा।"

जनक--"यदि उनका ज्ञान अधूरा है, तो उसे आप पूरा करें। यदि उन्होंने एक ही पाद का उपदेश दिया है, तो तीन पादों की पूर्ति आप करें।"

याज्ञ०--"वाक् रूप ब्रह्म का आयतन-शरीर वाणी ही है। वाणी द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। आकाश-नभ-ही उसकी प्रतिष्ठा-आश्रय-है और उसकी उपासना 'प्रज्ञा' भावना से करे।"

जनक—"प्रज्ञता क्या वस्तु है ?"

याज्ञ०—"हे राजन् ! वाणी की प्रज्ञता वाक् ही है अर्थात् वाक् ही प्रज्ञा है, इस भावना से उपासना करे। क्योंकि वाक् द्वारा ही बन्धु बान्धव जाने जाते हैं। बन्धु बान्धव ही नहीं वाणी द्वारा ही ऋक्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस वेद, इतिहास पुराण, भूतविद्यादि विद्यायें, उपनिषदें, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, अन्नदानादि धर्म, जल दानादि धर्म इहलोक तथा परलोक और सम्पूर्ण प्राणी सभी भूत ये सबके सब वाणी द्वारा ही भली-भाँति से जाने जाते हैं। हे सम्राट् ! इस लिये वाक् ही ब्रह्म है। इस भावना से उपासना करने वाले क परित्याग वाक् नहीं करता। संसार के समस्त वाणी वाक्ब्रह्म के उपासक को उपहार प्रदान करते हैं जो इस प्रकार वाक् ही ब्रह्म है इस भाव से उपासना करता है वह देव होकर देवों को ही प्राप्त होता है।"

यह सुनकर विदेहराज महाराज जनक परम प्रमुदित होकर महर्षि याज्ञवल्क्यजी से बोले—"ब्रह्मन् ! आपने मुझे चतुष्पाद वाक्ब्रह्म का उपदेश दिया, अतः मैं आपको एक सहस्र ऐसी पुष्ट अच्छी जाति की गौएँ प्रदान करता हूँ, जिनसे बहुत बड़े-बड़े हाथी के समान-बछड़े उत्पन्न हों।"

यह सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"राजन् ! इस उदारता के लिये आपको साधुवाद, किन्तु इस विषय में हमारे पूज्य पिताजी ने एक उपदेश दिया था।"

जनक—"आपके पिताजी ने क्या उपदेश दिया था ?"

याज्ञ०—"उनका विचार था, कि जब तक शिष्य उपदेश के द्वारा पूर्ण कृतार्थ न हो जाय, तब तक उसका धन ग्रहण नहीं करना चाहिये। शिष्य के कृतकृत्य हो जाने पर ही आचार्य को

उसकी दी हुई दक्षिणा ग्रहण करनी चाहिये। मेरी बुद्धि में आप अभी पूर्ण कृतार्थ नहीं हुए हैं यदि तुम्हें किसी अन्य आचार्य ने और कुछ उपदेश किया हो, तो उसे भी कहिये? उसे भी हम सुनना चाहते हैं।"

इस पर महाराज जनक ने कहा—"एक बार महर्षि शुल्व के पुत्र उदङ्क कृपा करके मेरे यहाँ पधारे थे। उन्होंने मुझे उपदेश दिया था—'प्राण ही ब्रह्म है'।"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"उदङ्क मुनि ने मातृवान् पितृवान् तथा आचार्यवान् योग्य आचार्य जिस प्रकार कहे वैसा ही उन्होंने तुम से कहा। प्राण तो ब्रह्म है ही। जिसके शरीर में प्राण क्रिया नहीं होती, वह कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। प्राण ब्रह्म है यह तो यथार्थ है, किन्तु उन्होंने प्राण का आयतन—शरीर—और उसकी प्रतिष्ठा—आश्रय—को भी तुम्हें बताया या नहीं?"

जनक—"ये तो उन्होंने मुझे नहीं बताये।"

याज्ञ०—"राजन्! तब तो सत्य होने पर भी यह तो एक पाद वाला ही ब्रह्म रहा। यह अधूरा है।"

जनक—"तब पूरा आप बतावें।"

याज्ञ०—"प्राण का शरीर प्राण ही है, आकाश उसकी प्रतिष्ठा-आश्रय-है। उसकी उपासना 'प्रिय' इस रूप से करनी चाहिये। संसार में सबसे प्यारा प्राण ही है।"

जनक—"मुनिवर! प्रियता क्या है?"

याज्ञ०—राजन्! कह तो दिया प्राणीमात्र को प्राण ही सबसे प्यारे हैं। प्राणों की रक्षा के लिये लोग न करने योग्य कार्यों को भी करते हैं। जिन्हें यज्ञ न कराना चाहिये लोग प्राणों की रक्षार्थ उन्हें भी यज्ञ करा देते हैं। जिनका दान न लेना

चाहिये उनसे भी दान ले लेते हैं। यात्रा करते समय जिधर भी-जिस दिशा में भो-जायँ, वहीं आशंका करते हैं, कि वहाँ हमारे प्राणों को कोई क्षति न पहुँचावे प्राणों की रक्षा के लिये शुभ मुहूर्त आदि देखकर जाते हैं। अपनी परम प्रिय वस्तु की जैसे सभी प्रकार से रक्षा की जाती है, वैसे ही पुरुष प्राणों की रक्षा करते हैं। प्राणों के लिये सभी का परित्याग करते हैं, प्राणों के लिये सब कुछ किया जाता है। इसलिये प्राण ही परब्रह्म है। जो प्राणों की प्रिय भावना से उपासना करते हैं, उन्हें प्राण परित्याग नहीं करता। वे अमर हो जाते हैं। समस्त प्राणी उसे उपहार प्रदान करते हैं। वह मनुष्य से देव होकर देवों को प्राप्त होता है प्राण ब्रह्म है, प्राण का प्राण ही शरीर है, आकाश उसकी प्रतिष्ठा है और प्रिय भाव से वह उपास्य है यही चतुष्पाद ब्रह्म का रूप है।"

जनक—"ब्रह्मन् ! आपने मुझे समग्र प्राण ब्रह्म का उपदेश दिया अतः हाथी के सदृश बलवान् हृष्ट पुष्ट बछड़े उत्पन्न करने वाली एक सहस्र गौएँ में आपको प्रत्युपकार रूप में अर्पण करता हूँ।"

याज्ञ०—"राजन् ! मैंने कह तो दिया मेरे पिता की आज्ञा नहीं है जब तक शिष्य पूर्ण कृतार्थ न हो जाय, तब तक दक्षिणा रूप में धन ग्रहण न करे। यदि किसी अन्य आचार्य ने आपको कोई उपदेश दिया हो, तो उसे भी बताइये।"

जनक—"ब्रह्मन् ! एक बार महर्षि वृष्ण के पुत्र बर्कु मेरे यहाँ पधारे थे, उन्होंने कहा था, चक्षु ही ब्रह्म है।"

याज्ञ०—"उन्होंने सत्य ही कहा मातृ पितृ आचार्यभक्त विद्वान् ऐसा ही उपदेश देते हैं। चक्षु तो ब्रह्म है ही। क्योंकि बिना देखे बताइये क्या लाभ हो सकता है ? किन्तु उन्होंने

चक्षु का आयतन, प्रतिष्ठा और उपास्य भावना बतायीं या नहीं ?"

जनक—"ये बातें तो नहीं बतायीं, इन्हे कृपा करके आप बतावें।"

याज्ञ०—"चक्षु का चक्षु ही आयतन है, आकाश ही उसकी प्रतिष्ठा-आश्रय--है और उसकी सत्य रूप से उपासना करनी चाहिये।"

जनक—"सत्यता क्या है, इसे और बतावें।"

याज्ञ०—"देखो, राजन्! चक्षु की सत्यता चक्षु ही हे। कोई साक्षी देने जाता है, तो उससे पूछते हैं सत्य बताना क्या तुमने अपनी आँखों से इसे देखा था ?" जब साक्षी देने वाला कह देता है—'हाँ मैंने इस घटना को अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखा था।" तब उसकी सत्यता में सन्देह नहीं रहता। आँखों देखी बात सत्य मानी जाती है। अतः जो विद्वान् चक्षु को ब्रह्म मानकर उसकी सत्य भाव से उपासना करते हैं उनका चक्षु परित्याग नहीं करते। सभी प्राणी उसे उपहार प्रदान करते हैं और वह देव होकर देवों को प्राप्त करता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस पर राजा ने फिर वैसी ही सहस्र गौएँ देने की इच्छा की। मुनि ने पिता की आज्ञा बताकर मना करते हुए अन्य आचार्य से जो सुना हो उसे पूछा। इस पर जनक ने कहा—"भारद्वाज गोत्रीय गर्दभी विपीत मुनि ने मुझे श्रोत्र ही ब्रह्म बताया था।"

याज्ञ०—"उन मुनि ने सत्य ही कहा वे मातृ पितृ आचार्य भक्त रहे होंगे। क्योंकि कुछ भी न सुने तो इहलोक तथा परलोक सम्बन्धी क्या लाभ ? किन्तु उन्होंने उनका आयतन प्रतिष्ठा और उपास्य भाव के सम्बन्ध में भी बताया था ?"

जनक—"उन्होंने नहीं बताया, उसे आप बतावें।"

याज्ञ०—"देखो, यह एक पाद ही ब्रह्म हुआ। श्रोत्र का शरीर श्रोत्र हा है, आकाश आश्रय है और अनन्त रूप से उसकी उपासना करनी चाहिये।"

जनक—"अनन्तता क्या ?"

याज्ञ०—"देखिये, राजन्! शब्द दिशाओं से ही सुने जाते हैं अतः दिशाएँ ही अनतता हैं। आप किसी भी दिशा में चले जाइये उसका अन्त नहीं मिलेगा। पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा नीचे ऊपर कहाँ जाकर समाप्त होती हैं इसे कोई भी नहीं बता सकता। ये दिशायें ही श्रोत्र हैं दिशायें अनन्त हैं। ब्रह्म भी अनन्त है अतः श्रोत्र ही ब्रह्म है। जो विद्वान् श्रोत्र की अनन्त भाव से उपासना करते हैं, उनका श्रोत्र परित्याग नहीं करते। उन्हें समस्त प्राणी उपहार प्रदान करते हैं, वे देव होकर देवों को प्राप्त होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"राजा ने पुनः उतनी गौएँ देनी चाहीं। पिता की आज्ञा बताते हुए निषेध करके अन्य आचार्य ने जो उपदेश किया हो उस सम्बन्ध में पूछने पर जनक ने कहा— "जबाला के पुत्र सत्यकाम ने मुझे मन ही ब्रह्म बताया था।"

याज्ञ०—"मन ही ब्रह्म है, उन्होंने यथार्थ ही कहा-किन्तु आयतन प्रतिष्ठा और उपास्य रूप भी बताया।"

जनक—"उसे आप बतावें।"

याज्ञ०—"मन का मन ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, 'आनन्द' इस रूप से इसकी उपासना करनी चाहिये।"

जनक—"आनन्दता क्या ?"

याज्ञ०—"आनन्द का एकमात्र स्थान मन ही है। काम मन से ही होता है इसीलिये वह मनसिज कहलाता है। मनसिज

ही आनन्दोत्पादक है उसी से अनुरूप पुत्र उत्पन्न होता है। वह आनन्द ही है। मन ही परब्रह्म है, जो मन की आनन्द भावना से उपासना करता है, उसे मन परित्याग नहीं करता। समस्त भूत उसे उपहार प्रदान करते हैं, क्योंकि मन तो सबका एक ही है। वह देव होकर देवों को प्राप्त होता है।"

सूतजी ने कहा—"राजा ने पुनः सहस्र गौ देनी चाही। पिता की आज्ञा से निषेध करके मुनि ने पूछा और किसी आचार्य ने कुछ कहा ? तब जनकजी ने कहा—"आपसे शास्त्रार्थ में जिनका शिर कट गया था उन विदग्ध शाकल्य ने हृदय को ब्रह्म बताया था।"

याज्ञ०—"उन्होंने भी सत्य ही कहा। हृदय हीन पुरुष कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु उन्होंने इसके आयतन, प्रतिष्ठा और उपास्य रूप नहीं बताये ?"

जनक—"उन्हें आप बतावें।"

याज्ञ०—'हृदय का हृदय ही आयतन है आकाश प्रतिष्ठा है और स्थिति इस रूप से उसकी उपासना करनी चाहिये।"

जनक—"स्थितता क्या ?"

याज्ञ०—"राजन् ! समस्त भूतों का आयतन रहने का स्थान हृदय ही है। हृदय में ही सबकी प्रतिष्ठा है, हृदय में ही समस्त प्राणी प्रतिष्ठित हैं। इसलिये यह हृदय ही परब्रह्म है। जो हृदय की स्थिति रूप में ब्रह्म भाव से उपासना करता है, उसका हृदय परित्याग नहीं करता सब भूत उसे उपहार समर्पण करते हैं, वह देव होकर देवों को प्राप्त होता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! राजा ने पुनः वैसी ही उतनी ही गौएँ देनी चाहीं किन्तु महामुनि ने पुनः पिता की आज्ञा बताकर उन्हें लेना स्वीकार नहीं किया। आगे जैसे राजा याज्ञ-

वल्क्यजी के शरणापन्न होंगे वह जनक की उपसत्ति आगे व
की जायगी।"

छप्पय

(१)

'ताहि बतावें आप' वाक को वाक आयतन।
तिहि आश्रय आकाश तासु प्रज्ञाहु उपासन॥
वाकहि तैं सब ज्ञान बन्धु सम्बन्धी शास्त्रनि।
वाक न त्यागे वाक उपासक सुर बनि देवनि॥
'सहस गाय जिनि गज सरिस, वत्स होइँ मुनि! लेउ अब।'
मुनि बोले—मम पितु कह्यो, करि कृतार्थ धन लेउ तब॥

(२)

यों विभिन्न मुनि कथित भिन्न बहु ब्रह्म बताये।
वाक, प्राण अरु नेत्र, श्रोत्र, मन, हृदय जताये॥
एक पाद मुनि कहे आयतन तत तत सब इनि।
सब आश्रय आकाश कहे क्रम रूप उपासन॥
प्रज्ञा प्रिय अरु सत्य पुनि, है अनन्त, आनन्द थिति।
भूत उपासक प्रति नमैं, देव होइँ मुनि कह्यो इति॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
प्रथम षडाचार्य ब्राह्मण समाप्त।

महाराज जनक की प्रपत्ति

[२४४]

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तं वा एतमिन्धꣳ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रियाः इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥*

(वृ० उ० ४ अ० २ ब्रा० २ म०)

छप्पय

जनक सुन्यो उपदेश शरन मुनिवर की लीन्हीं।
पकरे मुनि पद पदुम महा जिज्ञासा कीन्हीं॥
मुनि बोले—तुम विज्ञ किन्तु तन तजि कित जाओ?
'भगवन्! जानूँ नहीं' कहैं नृप-आपु बताओ॥
नेत्र दाहिने पुरुष इक, इन्ध इन्द्र कहलात है।
देव परोक्षहु होइँ प्रिय, पत्नि विराटहु अन्न है॥

समस्त शास्त्र उस एक ही देव की खोज करते हैं जो इस सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है। वह एक देव ही नाना रूप बनाकर जगत् में क्रीडा कर रहा है। उस देव के सहस्र नाम हैं। सहस्र से अभिप्राय अनंत से है। अर्थात् जितने भी नाम हैं, सब ब्रह्म के ही नाम हैं, जितने भी रूप हैं सब ब्रह्म के ही रूप हैं, वे इन्द्र बड़े

---

* जिसका नाम इन्ध है, जो दायी आँख में रहता है उसी इन्ध को परोक्ष रूप में इन्द्र भी कहते हैं। इन्द्र को इन्ध इस लिये कहा गया, कि देवता परोक्षप्रिय होते हैं। प्रत्यक्ष से वे विद्वेष करते हैं।

मायावी हैं, वे अनेक रूपों में दिखाई देते हैं। उन परमदेव
कोई इन्द्र कहते हैं, कोई सूर्य, वरुण, अग्नि, दिव्य, गरुड़, ग
त्मान्, दीप्तिमान्, यम, वायु, एक, सद् इन नामों से पुकार
हैं। वे ही ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, अक्षर, परम, स्वराट, विष्णु
प्राण, काल, अग्नि, तथा चन्द्रमा इन नामों से भी प्रसिद्ध हैं
उन्हीं को मनु, प्रजापति, इन्द्र, प्राण, शाश्वत तथा ब्रह्म कहते हैं
तात्पर्य यह है कि जितने भी स्थावर-जङ्गम, चर अचर हैं सबके
रूप में वे ही स्थित हैं। इन्द्रादि लोकपाल उन्हीं परब्रह्म परमात्म
की विभूति हैं।

कुछ लोग कहते हैं। न कहीं आकाश में स्वर्गलोक है, न
इन्द्रादि देवता हैं। विद्वान् को ही देवता कहते हैं। जहाँ सुख
मिले वही स्वर्ग। बात तो सत्य है विद्वान्–सदाचारी शास्त्रज्ञ–देव
सदृश ही है। जहाँ सुख हो वह स्वर्ग के ही समान है, किन्तु
इसका अभिप्राय यह नहीं कि देवता कोई योनि ही नहीं। स्वर्ग
कोई लोक ही नहीं।

भगवान् से ही इस जगत् की दश प्रकार की सृष्टि हुई है।
सबके उत्पादक सृष्टा, प्रजनन कर्ता वे परब्रह्म परमात्मा ही हैं।
जब वे क्रीडा के निमित्त जीवों के भोग भुगवाने के निमित्त एक
से बहुत होने की इच्छा करते हैं। तो अपने को ही दश प्रकार
से बना लेते हैं। वही दश विध सृष्टि कहलाती है।

दस विध सृष्टि में ६ प्रकार की प्राकृत सृष्टि होती है चार
प्रकार की वैकृति सृष्टि है। पहिले अव्याकृत ब्रह्म रहता है, उसमें
कोई विकार नहीं, क्षोभ नहीं। प्रकृति में जब विकृति होती है।
साम्यावस्था का नाम प्रकृति है, जब गुणों में विषमता आती है,
तब ही सृष्टि होनी आरम्भ हो जाती है। समता में सृष्टि नहीं।

वैषम्य से ही सृष्टि होती है। तभी दश प्रकार की सृष्टि उत्पन्न होती है।

१—पहिली सृष्टि है महत्तत्व की। उसे ब्रह्मा कह लो। एक महान् तत्त्व उत्पन्न होता है, उसके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जाता। गुणों का वैषम्य होना ही उसका स्वरूप है।

२—दूसरा सृष्टि अहङ्कार की होती है। या यों कहो कि महत्तत्त्व से अहङ्कार उत्पन्न होता है। वह अहङ्कार सात्त्विक, राजस् और तामस तीन प्रकार का होता है।

३—तीसरी सृष्टि तामस अहङ्कार से उत्पन्न, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये सब हैं।

४—चौथी सृष्टि राजस् अहङ्कार से उत्पन्न दश विध इन्द्रियों की है, इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ।

५—पाँचवीं सृष्टि सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवताओं की तथा मन की है।

६—छठी सृष्टि अविद्या का है। अविद्या न हो तो जीव मोह में पड़कर उन्मत्त की भाँति पुरानी सब बातों को भूल कैसे जाय ? इसलिये यह अविद्या पंच पर्वा कही गयी है। पर्व गाँठ को कहते हैं। जैसे बाँस में पोर पोर पर गाँठ हुआ करती है। पाँच गाँठ तामिस्र, अन्ध तामिस्र, तम, मोह, और महामोह के नाम से विख्यात हैं। ये छः तो प्रकृति से होने वाली प्राकृत सृष्टि कहलाती हैं। अब प्रकृति में जो विकृति होती है उस विकृति से होने वालो वैकृत सृष्टि चार प्रकार की है।

७—सातवीं सृष्टि वृक्ष लता गुल्म आदि की।

८—आठवीं सृष्टि ऊँट, घोड़ा, चिड़िया आदि पशु पक्षियों की।

९—नवीं सृष्टि मनुष्यों की।

१०—दशवीं सृष्टि देवताओं की है। देवयोनि आठ प्रकार की होती है। (१) देवता, (२) पितर, (३) असुर, (४) गन्धर्व और अप्सरायें, (५) यक्ष और राक्षस, (६) सिद्धगण, (७) चारण और विद्याधर, (८) भूत, प्रेत, पिशाच, किन्नर, किंपुरुष तथा अश्वमुखादि। इनमें स्वर्ग मे रहने वाले देव और शेष उपदेव कहलाते हैं।

इस प्रकार दशविधकी सृष्टि से यह संसारचक्र चल रहा है। अविद्या के कारण जीव यह नहीं जानता कि मरकर हम कहाँ जायँगे, हमारी क्या गति होगी? जिसे जीव की गति अगति का ज्ञान है, वही ज्ञानी है। शुभ कर्मों का फल स्वर्गादि पुण्य लोकों की प्राप्ति है। अशुभ कर्मों का फल नरकादि अपुण्य लोकों की प्राप्ति है और ज्ञान का फल संसार चक्र से मुक्त होना है। उसे भगवान् में आसक्ति या भक्ति भी कहते हैं। परम पुरुषार्थ परतत्त्व का ज्ञान अथवा पराभक्ति प्राप्ति ही है। इसके बिना सब व्यर्थ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा महाराजाओं के बैठने के लिये मयूर पिच्छादि से निर्मित एक विशेप प्रकार का आसन होता था। महाराज जनक अपने सिंहासन पर उस कूर्च नामक आसन पर बैठे थे। जब उन्हें निश्चय हो गया, कि ये महर्षि याज्ञवल्क्य विशेषणों सहित चतुष्पाद ब्रह्म का परिज्ञान रखते हैं, तब तो उनके प्रति राजा की विशेप श्रद्धा उत्पन्न हुई। उन महर्षि के चरणों मे आत्मसमर्पण की इच्छा से वे अपने बहुमूल्य कूर्च आसन से उठकर उनके समीप आये और साष्टाङ्ग प्रणाम करके बोले—"भगवन्! मैं आपके पादपद्मो मे प्रणाम करता हूँ। मैं आपका शिष्य हूँ। मेरी रक्षा करें और मुझे सदुपदेश दें।"

यह सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"आप सुपात्र हैं, उपदेश पाने के लिये योग्यपात्र हैं। क्योंकि ब्रह्मज्ञान का मार्ग बहुत लम्बा है। जैसे लम्बा मार्ग एकाकी पैदल पार करना कठिन है। लम्बा मार्ग यदि स्थल का है तो उसे रथ आदि वाहनों द्वारा पार किया जा सकता है। यदि जल का मार्ग है तो नौका तथा पोतादि से पार किया जा सकता है। इसी प्रकार आपने प्राणादि ब्रह्मों का आश्रय लेकर उपासनाओं द्वारा अपने चित्त को समाहित कर लिया है। इस ब्रह्मज्ञान के दीर्घ मार्ग पर बहुत दूर तक पहुँच चुके हो। क्योंकि अनेक आचार्यों द्वारा आपको उपनिषद् ज्ञान प्राप्त हो चुका है। किन्तु इतना सब होने पर भी अभी आप गन्तव्य स्थान तक नहीं पहुँचे हैं।"

जनक ने कहा—"किस प्रकार ? भगवन् !"

याज्ञ०—"क्या तुम्हे इस बात का ज्ञान है, कि इस शरीर का परित्याग करके तुम कहाँ पर जाओगे ?"

जनक—"नहीं, भगवन् ! मुझे इस बात का ज्ञान नहीं है कि देह त्याग के अनन्तर मैं कहाँ जाऊँगा।"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"तुमने मुझसे उपदेश देने को कहा है, सो मैं तुम्हे अब इसी बात का उपदेश करूँगा, कि तुम तन त्याग के अनन्तर कहाँ जाओगे।"

जनक ने कहा—"भगवन् ! आपकी बड़ी कृपा है, इसी का उपदेश मुझे करें।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखो, राजन् ! आप दक्षिण नेत्र को ध्यान से देखे, दूसरे के नेत्र में देखे या अपने ही नेत्र को आदर्श में देखें उसमे क्या दिखाई देता है ?"

जनक—"भगवन् ! उसमें एक पुरुषाकार मूर्ति दिखायी देती है।"

याज्ञ०—"यह जो नेत्र में पुरुष दिखायी देता है, इसका नाम इन्ध है। इसी पुरुष को इन्द्र भी कहते हैं। वास्तव में वह इन्ध ही है परोक्षरूप से उसे इन्द्र कहते हैं।"

जनक—"इन्ध को परोक्षरूप से इन्द्र क्यों कहते हैं ?"

याज्ञ० देवता सदा से परोक्षप्रिय ही होते हैं। प्रत्यक्ष से उन्हें एक प्रकार से द्वेष ही होता है। अतः इन्ध को परोक्ष रूप से इन्द्र कहते हैं। यह जो नेत्र पुरुष है वह इसकी पत्नी विराट् है।"

जनक—"विराट् क्या ?"

याज्ञ०—"विराट् जो विशेष रूप से प्रकाशमान हो। यह विराट् और इन्द्र हृदयान्तर्गत जो आकाश है, उसमें मिलते हैं। हृदयाकाश ही इनके मिलन का स्थान है, हृदयान्तर्गत जो एक लाल मांस पिण्ड है वही इन दोनों का अन्न है और हृदयान्तर्गत जो एक नाड़ियों का जाल-सा है, वही इन दोनों का-इन्द्र और विराट् का-प्रावरण-अर्थात् ओढ़ने का वस्त्र है। हृदय में जो यह नाड़ी समूह रूप जाल है जिसमें ताने बाने की भाँति असंख्यों नाड़ियाँ ओत प्रोत हैं। उस नाड़ी समूह में से कुछ नाड़ियाँ नीचे की ओर कुछ दायीं बायीं ओर जाती हैं, जो नाड़ी ऊपर की ओर जाती है, वह इन दोनों-इन्द्र और उनकी पत्नी विराट् का आने जाने का-मार्ग संचार करने का-द्वार है। हृदय के भी भीतर पुरुष का हित करने वाली नाड़ियाँ स्थित हैं। वे नाड़ियाँ कितनी सूक्ष्म हैं, इसका अनुमान करना कठिन है यों समझिये जैसे बाल है उसको बीच से फाड़कर उसके सहस्र भाग कर दो। अर्थात् बाल से भी सहस्र गुनी सूक्ष्म होती हैं। इन्द्र (परमात्मा) और उनकी पत्नी विराट् (कमला) द्वारा पाया हुआ अन्न इन हिता नाम वाली अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियों द्वारा ही शरीरों में जाता

है। अर्थात् इन नाड़ियों द्वारा ही जीवात्मा संसार को प्राप्त होता है। इसी कारण से हृदय में स्थित इस शरीराभिमानी जीवात्मा से दक्षिण नेत्र में स्थित परम पुरुष सूक्ष्मतर आहार को ग्रहण करने वाला होता है। अर्थात् अति सूक्ष्मान्न-अमृत भक्षण करने वाला होता है।"

जो पुरुष उस अमृतात्मा पुरुष को भली-भाँति जान लेता है, वह विद्वान् एक प्रकार से सर्वात्मा हो जाता है वह प्राणात्मभूत बन जाता है। पूर्व दिशा उसका पूर्व प्राण हो जाता है, दक्षिण दिशा दक्षिण प्राण, पश्चिम दिशा पश्चिम प्राण, उत्तर दिशा उत्तर प्राण, ऊर्ध्व दिशा ऊर्ध्व प्राण, नीचे की दिशा नीचे का प्राण तथा समस्त दिशायें उसके सम्पूर्ण प्राण हैं।"

वह इन्द्र, इन्ध अमृतात्मा परब्रह्म पुरुष जिसका सकेत पहिले किया गया है उसे वेद और उपनिषदों में नेति-नेति कहकर वर्णन किया गया है। उसे कोई चाहे कि इन प्राकृत इन्द्रियों से ग्रहण कर लें, तो असभव है। वह इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। कोई चाहे कि हम उसे किसी भी प्रकार से शीर्ण (नष्ट) कर दें तो यह असम्भव है, क्योंकि वह अशीर्ण है किसी भी अस्त्र शस्त्र या अन्य उपायों से नष्ट नहीं किया जा सकता। वह ससार की किसी भी वस्तु मे लिपायमान नहीं होता क्योंकि वह सदा सर्वदा निर्लेप बना रहता है। वह किसी भी कारण से व्यथित नहीं होता ना क्षीण ही होता है। क्योंकि वह अबद्ध है असित है। ऐसा वह पुराण पुरुष परम पुरुष पुरुषोत्तम परमात्मा है।

जनक! तुम सोच करने योग्य नहीं हो, तुम जन्ममरण के भय से विमुक्त होकर अभय पदवी को प्राप्त हो गये हो। इस

"अभय ब्रह्म के ज्ञान से पुरुष सभी प्रकार के भयों से छूट जाता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह सुनकर महाराज जनक आनन्द से विह्वल हो गये। कृतज्ञता के भाव से दब से गये। याज्ञवल्क्यजी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए गद्गद वाणी से नेत्रों से प्रेमाश्रु बहाते हुए कहने लगे—"भगवन् ! याज्ञवल्क्यजी ! आप जैसे सद्गुरु को पाकर मैं कृतार्थ हो गया। आपने मुझे अभय ब्रह्म का ज्ञान कराया। सभी प्रकार के भयों से विमुक्त कराया। अब मैं किन शब्दों द्वारा आपके प्रति अपनी कृतज्ञता को प्रकट करूँ आपने मुझे अभय कराया आपको भी अभय प्राप्त हो। आप तो अभय स्वरूप ही हैं। मैं आपके पाद पद्मों में पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ, आप मेरा नमस्कार स्वीकार करें। ते नमः-ते नमः। यह समस्त विदेह देश और यह मैं आपके अधीन हैं। मेरा राज्यपाट सेना कोप तन मन तथा धन आपके श्री चरणों मे समर्पित है आप इसका जैसे चाहे उपयोग करें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार महाराज जनक ने याज्ञवल्क्य महामुनि द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके आत्मसमर्पण कर दिया। अब आगे जैसे याज्ञवल्क्यजी द्वारा जनक को आत्म-स्वरूप का उपदेश दिया जायगा उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

(१)

वाम नेत्र जो पुरुष तासु पत्नी विराट है।
हृदयाकाश हि तिनहिँ मिलन थलवर विलास है॥
लाल पिंड हिय अन्न प्रावरण नाड़ि जाल है।
ऊर्ध्व नाड़ि सचार हिता हिय नाड़ि द्वार है॥
नाड़ी हैं अति सूक्ष्मतर, अन्न देह तिहिँ जातु है।
करै सूक्ष्म आहार जिह, नित्य अमृत ई खातु है॥

(२)

सर्वात्मक विद्वान् पुरुष सब दिशि प्राणात्मा।
नेति-नेति यह ब्रह्म अगृह्यहु सो परमात्मा॥
नहीं शीर्ण नहिं व्यथित अबद्ध असग कहायो।
जनक! कृतारथ भयो, अभय पद तैंने पायो॥
जनक कृतारथ है कहें—अभय करयो तव पग परूँ।
तन, मन, धन सरवसु सकल, तव चरननि अरपित करूँ॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद के चतुर्थ अध्याय का
कूर्च ब्राह्मण समाप्त।

याज्ञवल्क्यजी द्वारा जनक को आत्म-ज्योति का उपदेश (१)

(२४५)

जनकᳪ ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेने न वदिष्य इत्यथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वर ददौ स ह कामप्रश्नमेव वव्रे तᳪ हास्मै ददौ तᳪ ह सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ ॥*

(बृ० उ० ४ अ० ३ ब्रा० १ म०)

छप्पय

याज्ञवल्क्य वर दयो जनक! पूछो जब चाहो।
मुनि जब पहुँचे जनक-सभा तब नृप हरषायो॥
नृप पूछें—यह पुरुष कौन-सी ज्योतीवारो?
मुनि बोले—रवि ज्योति करैं कर्मनि तिनि न्यारो।
रवि न रहे तब ज्योति को? चन्द्र ज्योतितैं करत सब।
रहे चन्द्र नहिं? अग्नितैं, इधर उधर सब करत तब॥

---

* विदेह जनक के समीप याज्ञवल्क्यजी पहुँचे। यह सोचकर गये थे कि कुछ बोलूँगा नहीं, किन्तु पहिले जनक विदेहराज ने याज्ञवल्क्य से अग्निहोत्र के सम्बन्ध में सम्वाद किया था उस समय जनक के लिये मुनिवर ने वरदान दिया था, कि तुम जो चाहो माँग लो, तब जनक ने इच्छानुसार कभी भी जो चाहूँ प्रश्न पूछूँ यही वर माँगा था और मुनि ने उन्हें यह वर दे दिया था। अतः प्रथम उनसे जनकराज ने ही प्रश्न किया?

ससार मे जितना भी प्रकाश है, उन परब्रह्म परमात्मा का ही प्रकाश है। उन्हीं के प्रकाश से यह दृश्यवान् जगत् दृष्टिगोचर होता है। यदि उनका प्रकाश व्याप्त न हो, तो ससार में हमे कुछ भी दृष्टिगोचर न हो। घर मे समस्त सामग्रियाँ भरी हुई हैं। किन्तु प्रकाश न हो तो उनमे से एक भी वस्तु हमें दिखायी नहीं देती। वस्तुएँ हमे ज्योति द्वारा-प्रकाश के माध्यम से दीखती हैं।

आप कहोगे, कि हमे तो सब वस्तुएँ आँखो से दिखायी देती हैं, आँख न हो तो, कुछ भी दिखायी न दे। जिसे तुम आँख कहते हो जो दो वाल वाले पलको के बीच मे काली विन्दु वाली सफेद रग की पानी युक्त गोलक है वह वास्तव मे नहीं देखती। उसमें बैठे हुए सूर्य हीं सब वस्तुओं को देखते हैं। आँखों में सूर्य न बैठे हों और बाहर भी सूर्य का प्रकाश न हो, तो कोई वस्तु दिखायी नहीं देगी आप कहेंगे, रात्रि में तो सूर्य रहता नहीं, रात्रि मे वस्तुएँ कैसे दीखती हैं ? नेत्र के अधिष्ठातृ देव के रूप मे ता सूर्य आँखो मे सदा रहते हैं, किन्तु आँखें भी बाहर के प्रकाश के बिना देखने मे समर्थ नहीं होतीं। रात्रि मे यद्यपि सूर्य का प्रकाश नहीं रहता किन्तु उस समय सूर्य अपने प्रकाश को चन्द्रमा तथा नक्षत्रो को दे जाते हैं, अतः हम चन्द्रमा तथा नक्षत्रो के प्रकाश से देखते हैं।

आप कहेंगे अमावास्या प्रतिपदा को चन्द्रमा भी नहीं दीखत। वर्षात् मे बादल घिरने पर नक्षत्र भी नहीं दीखते तब आँखें किसके प्रकाश से देखती हैं ? तो उस समय अग्नि के प्रकाश के द्वारा देखते हैं। सूर्य चन्द्र का प्रकाश ही अग्नि मे विद्यमान रहता है। विद्युत् भी अग्नि ही है। उसके प्रकाश मे देखते।

आप कहेंगे, घोर जगल मे अमावास्या की रात्रि मे जहाँ न,

सूर्य है न चन्द्रमा न अग्नि ही, वहाँ दो व्यक्ति मिलते हैं आपस में पहिचान लेते हैं, वे कैसे पहिचान लेते हैं? तो वे वाणी द्वारा पहिचानते हैं। वाणी में भी प्रकाश होता है। आपकी किवाड़े बन्द हैं किसी ने किवाड़ खटखटाई। आप भीतर से पूछते हैं— "कौन है?"

बाहर वाला उत्तर देता है—"मैं देवदत्त हूँ।"

तो न आपने देवदत्त को देखा, न देवदत्त ने आपको देखा। वहाँ न चक्षु का प्रकाश है, न सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि का प्रकाश है केवल वाणी द्वारा ही आप बाहर के आदमी को पहिचान लेते हैं।

अच्छा जहाँ आँख नहीं, सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा वाक् व्यवहार नहीं वहाँ भी ऋषि मुनि आँखें बन्द करके ध्यान में बैठे-बैठे देख लेते हैं, वे किस ज्योति से देखते हैं? वह आत्मज्योति है। जैसे शैयापर आँखें बन्द करे पड़े रहने पर स्वप्न में हाथी घोड़े आदि सब दिखायी देते हैं, वे मन द्वारा कल्पित हैं। किन्तु जो मन का भी मन है जिससे परे कोई नहीं है उस आत्मज्योति से सब कुछ जाना जा सकता है, देखा जा सकता है, वह देह से दृष्यमान् जगत् से भिन्न है उस आत्मज्योति की ही उपलब्धि करनी चाहिये। उसी के प्रकाश में सबको देखना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! याज्ञवल्क्यजी विदेहराज महाराज जनक के गुरु ही थे। वे बार-बार विदेहराज की सभा में आया जाया ही करते थे और महाराज जनक उनसे नाना प्रकार के प्रश्न पूछते ही रहते थे। पीछे जो कूर्च ब्राह्मण में सम्वाद हुआ है, वह सम्वाद समाप्त हो गया। याज्ञवल्क्यजी अपने स्थान पर चले गये। अब दूसरा सम्वाद आरम्भ करते हैं। एक बार किसी योगक्षेम सम्बधी प्रयोजन से याज्ञवल्क्यजी

महाराज जनक के समीप गये। जाते समय मार्ग में उन्होंने विचार किया, कि "इस समय तो मैं अपने निजी प्रयोजन के निमित्त राजा के यहाँ जा रहा हूँ, इसलिये राजा को किसी प्रकार का उपदेश नहीं करूँगा, न किसी प्रकार के शास्त्रार्थ मे ही सम्मिलित हूँगा। चुपचाप जाकर वहाँ बैठा बैठा दूसरे पंडित विद्वानों की बातो को सुनता रहूँगा।"

ऐसा निश्चय करके महामुनि याज्ञवल्क्य महाराज जनक की राजसभा मे पहुँच गये। राजा ने मुनिवर का अभिनन्दन किया। स्वागत सत्कार करके उन्हे उचित आसन पर बिठाकर राजा ने कहा—"भगवन्! मेरा एक प्रश्न है, क्या आप उसका उत्तर देंगे ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"हाँ राजन्! आप जो पूछेंगे, उसका मैं उत्तर दूँगा, बताइये आपका क्या प्रश्न है ?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! याज्ञवल्क्यजी तो मार्ग मे यह निश्चय करके आये थे, कि अब के मैं राजा को कुछ भी उपदेश न दूँगा, फिर वे राजा के प्रश्न का उत्तर देने को तत्काल तैयार क्यों हो गये ? एक बार भी उन्होंने मना क्यों नहीं किया, कि भाई, आज तो मेरा विचार तुम्हे कुछ भी उपदेश देने का नहीं है।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! स्वय अपनी ओर से उपदेश देने का उनकी इच्छा नहीं थी, जब राजा ने जाते ही अपने आप प्रश्न कर दिया, तब तो उसका उत्तर देने को वे बाध्य ही थे।

शौनकजी ने कहा—"बाध्य क्यों थे, वे कोई उनके वेतन भोगी भृत्य तो थे नहीं, वे राजा के गुरु थे, कह देते भैया, फिर किसी दिन पूछना। आज तो मैं यही निश्चय करके आया हूँ, कि राजसभा में कुछ भी नहीं बोलूँगा। दूसरे विद्वानों की बात सुनूँगा।"

सूतजी ने कहा—"यह सत्य है, कि वे राजा के वेतन भो
भृत्य नहीं थे। वे प्रश्न का उत्तर देने को मना भी कर सकते
किन्तु उन्होंने तो पहिले ही राजा को वर दे रखा था। उ
वरदान के कारण उन्हें राजा के प्रश्न का उत्तर देना ही पड़ा।"

शौनक—"वरदान कब और क्यों दिया ? और क्या वरदा
दिया ? कृपया इसे हमें सुनाइये ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! बहुत पहिले की बात है, एक
बार याज्ञवल्क्यजी और जनकजी में अग्निहोत्र के सम्बन्ध
परस्पर सम्वाद हुआ। राजा जनक कर्मकाण्ड में अत्यन्त ही
कुशल थे। याज्ञवल्क्यजी जो भी प्रश्न करते वे उसका तत्काल
शास्त्रीय प्रमाणों सहित उत्तर देते। राजा के युक्तियुक्त उत्तरों से
सन्तुष्ट होकर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"मैं तुम्हारे प्रश्नों से
अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। तुम मुझसे कोई भी इच्छित वर माँग लो।"

राजा ने विनीत भाव से कहा—"ब्रह्मन् ! आपके अनुग्रह से
मेरे यहाँ सभी कुछ है, यदि आप मुझे वर देना ही चाहते हैं, तो
यही वरदान दीजिये, कि मैं जब भी आप से जो भी प्रश्न पूछूँ,
कृपा करके मुझे सब समय इच्छित प्रश्न पूछने की अनुमति दे दें
और उस प्रश्न का यथार्थ उत्तर दे दें।"

इस वर से और अधिक सन्तुष्ट होकर याज्ञवल्क्यजी ने
कहा—"राजन् ! आप जिस समय भी चाहे मुझसे इच्छानुसार
प्रश्न कर सकते हैं। आप जब भी जिस समय भी जो भी प्रश्न
पूछेंगे, मैं उसका उसी समय उत्तर दूँगा।"

यह बात सबको विदित थी, अतः याज्ञवल्क्यजी के कुछ
कहने के पूर्व ही राजा ने ही प्रश्न पूछ दिया। अपने वरदान के
अनुसार मुनि को राजा के प्रश्न का उसी समय उत्तर देना ही

था इसीलिये अपने निश्चय को स्थगित करके उन्होंने उत्तर देना स्वीकार किया।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी! राजा ने क्या प्रश्न किया?"

सूतजी बोले—"भगवन्! राजा ने पूछा—"यह पुरुष किस ज्योति वाला है। अर्थात् पुरुष किस ज्योति से सबको देखता है?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"सम्राट्! पुरुष आदित्य रूप ज्योति वाला है। वह जो भी कुछ उठना बैठना, इधर-उधर जाना, आना, लौटना, फिरना आदि कर्म करता है। आदित्य की ज्योति के ही द्वारा करता है। नेत्रों में भी आदित्य की ज्योति है और बाहर भी आदित्य की ज्योति प्रकाशित हो, तभी कार्य करता है। आदित्य की ज्योति बिना यह कुछ भी नहीं कर सकता।"

जनक—"भगवन्, याज्ञवल्क्यजी! आपका कहना यथार्थ है। बात ऐसी ही है। अब मेरी एक शंका और है?"

याज्ञ०—"उसे भी पूछिये।"

जनक—"भगवन्! रात्रि में तो आदित्य अस्त रहते हैं, उस समय यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है? अर्थात् सूर्यास्त होने पर पुरुष किसकी ज्योति से देखता है?"

याज्ञ०—"राजेन्द्र! उस समय मनुष्य चन्द्रमा की ज्योति से देखता है। उस समय चन्द्रमा ही उसकी ज्योति होती है। उसी ज्योति के द्वारा यह बैठता उठता, इधर उधर जाता आता है, सब कर्मों को करता है।"

जनक—"ऐसा ही है। अब मेरा एक प्रश्न और है।"

याज्ञ०—"वह क्या प्रश्न है?"

जनक—"मान लो, सूर्य भी अस्त हो गये, उस दिन चन्द्रमा

भी नहीं निकले हैं, तब पुरुष किस ज्योति वाला होता अर्थात् उस समय किसकी ज्योति से पुरुष देखता है ?"

याज्ञ०—"उस समय पुरुष अग्नि की ज्योति वाला होत अर्थात् अग्नि के सहारे ही उठता-बैठता है, इधर-उधर ज आता है, समस्त कर्मों को करता है।"

जनक—"भगवन्! आपका कथन सर्वथा सत्य है, बात ठ ही है, फिर भी मेरा एक प्रश्न और है ?"

याज्ञ०—"उसे भी कहिये।"

जनक—"मान लो सूर्य भी अस्त हो गये हैं, चन्द्रमा नहीं निकले हैं। समीप मे कहीं अग्नि भी विद्यमान नहीं है, उस समय पुरुष किस ज्योति वाला होता है ? अर्थात् उस स किसकी ज्योति से देखता है ?"

याज्ञ०—"राजन्! उस समय पुरुष वाणी द्वारा पहिचान है। वाक् ही उसकी ज्योति होती है। उसका उठना-बैठना, इध उधर जाना, आना तथा समस्त कार्य वाणी द्वारा ही सम्प होते हैं। तुम तो सम्राट् हो, तुम नित्य ही अनुभव करते निविड़ तिमिर मे जहाँ गुप्प अन्धकार होता है, जहाँ हाथ से ह हाथ दिखायी नहीं देता, वहाँ ज्यो ही वाणी द्वारा पुरुष उच्च रण करता है, मैं अमुक हूँ, वहीं झट लोग जान जाते हैं वाए के सहारे ही एक दूसरे के समीप चले जाते हैं लोग बिना दे शब्द वेधी वाण छोड़ देते हैं। जो शब्द के सहारे ही लक्ष्य वे कर देता है।"

जनक—"आपका कहना सर्वथा सत्य है, फिर भी मेरी एक शंका है ?"

याज्ञ०—"अब कौन-सी शंका है ? उसे भी पूछो।"

जनक—"मान लो, सूर्य भी अस्त हो गये हैं, चन्द्रमा भी

नहीं निकले हैं, वहाँ अग्नि भी विद्यमान नहीं है। वाणी भी शान्त हो गयी है, फिर पुरुष किस ज्योति द्वारा देखता है ?"

याज्ञ०—"उस समय पुरुष आत्मज्योति द्वारा ही उठता-बैठता, इधर उधर, चलता-फिरता जाता और लौटता है तथा सभी कर्मों को करता है। मान लो कोई आदमी अन्धा है, गूँगा और बहरा भी है, फिर भी उसके शरीर मे आत्मा विद्यमान है, उसके सहारे अपने सब व्यवहार चलाता है। ज्ञानी पुरुष समाधि में सब कुछ देखते हैं। साधारण पुरुष स्वप्नावस्था में सूर्य, चन्द्र, अग्नि, तथा वाणी के अभाव में भी देह और इन्द्रियों के सघात का अतिक्रमण करके देखता सुनता और इधर उधर जाकर समस्त कर्मों को करता है।"

जनक ने कहा—"तो भगवन् ! मुझे उस आत्मा के ही सम्बन्ध मे बताइये उसी के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से समझाइये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! महाराज जनक के पूछने पर जिस प्रकार महामुनि याज्ञवल्क्यजी ने उन्हे आत्मा का स्वरूप समझाया, उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

नहीं अग्नि, रवि, सूर्य, वाक तहँ ज्योति दिखावै ?
"बानी द्वारा पुरुष जानि इत आवै जावै ॥"
जहाँ न रवि, शशि, अग्नि, वाक, तहँ ज्योति कौन मुनि ?
"वहाँ आत्म ही ज्योति आत्म तैं करै धरै सुनि ॥
आत्म रूप मोतैं कहैं ? सुनि मुनि बोले—सुनु सदय !
बुद्धि वृत्ति भीतर रहत, प्राणानि में विज्ञानमय ॥

—o—

निष्फल नहीं होता। बिना भोग किये कर्मों का नाश नहीं होता शरीर से इतने कर्मों का भोग संभव नहीं। अतः बहुत से कर्मों का भोग स्वप्न में हो जाता है। जैसे राजा बनने का मानसिक संकल्प हुआ। स्वप्न में राजा बन गये। भोग समाप्त हो गया। स्वप्न तीन प्रकार के होते हैं। सुस्वप्न, दुःस्वप्न और साधारण स्वप्न साधारण प्रायः निष्फल होते हैं, उनसे साधारण कर्मों के भोग मिट जाते हैं। वे स्वप्न याद भी नहीं रहते। दुःस्वप्न और सुस्वप्न का बुरा अच्छा फल जाग्रत में होता है। शास्त्रों में स्वप्नों के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। उनके फलादेश बताये गये हैं, कि अमुक स्वप्न का फल अच्छा होता है अमुक का बुरा होता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में स्वप्नों के सम्बन्ध में विस्तार से बताया गया है। स्वयं साक्षात् परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णजी ने अपने पिता नन्दजी से स्वप्नों का फला देश कहा है। वे सुस्वप्नों के सम्बन्ध में नन्दजी को बताते हुए कहते हैं—"पिताजी! सामवेद में काण्व नामकी एक शाखा है, उसमें सुस्वप्नों का फल बताया गया है उसी के अनुसार मैं स्वप्नाध्याय को कहता हूँ। जो इस स्वप्नाध्याय को सुन भी लेगा, उसे गंगा-स्नान का फल प्राप्त हो जायगा। देखिये दही, अन्न, खीर को जो नदी या तालाब के किनारे बैठकर स्वप्न में कमल के पत्ते पर खाता है वह पुरुष राजा होता है। इसके अतिरिक्त जो स्वप्न में जिसको ब्राह्मण ब्राह्मणी धान्य, पुष्पाञ्जलि दे, छत्र, शुक्ल धान्य दें, रथ पर बैठा पुरुष, सफेद माला सफेद चंदन लगाये दधि खीर खाता हो, वह तो निश्चय ही राजा होता है। स्वप्न में जो जल जीव, बिच्छू, सर्प देखे धन, पुत्र, प्रतिष्ठा तथा विजय को प्राप्त करे। मत्स्य, मांस, मोती, शंख, चंदन, खीर आदि शुक्ल पदार्थ देखे वह धन प्राप्त करे तथा सुरा, रुधिर, स्वर्ण, मोती, विष्ठा से भी धन मिलता है। जो

स्वप्न में प्रतिमा, शिवलिङ्ग देखे फले हुए विल्व तथा आम के वृक्षों को देखे तो उसे धन प्राप्त हो। जो जलती अग्नि स्वप्न में देखे तो धन, लक्ष्मी तथा वुद्धि की प्राप्ति हो। आवला, हरड़ कमल देखने से भी धन मिलता है। देवता, ब्राह्मण, गौ, पितर, सन्यासी जो स्वप्न में दें तो वह वस्तु जाग्रत में भी प्राप्त हो जायगी। स्वप्न में यदि कोई सुभ्रवस्त्र धारिणी सफेद माला और चन्दन लगाये स्त्री आलिङ्गन करे तो उसे लक्ष्मी तथा सर्वत्र सुख की प्राप्ति हो। जिसे पीत वस्त्र धारिणी पीली माला चन्दन धारण किये हुए स्त्री स्पर्श करे तो उसका कल्याण होगा। स्वप्न में कपास और भस्म को छोडकर जितनी भी सफेद वस्तु हैं वे सब मगल देने वाली होती हैं। इसके विपरीत गौ, हाथी, देवता और ब्राह्मण को छोड़कर जितनी भी काली वस्तुएँ हैं वे स्वप्न में अमगल कारिणी होती हैं। स्वप्न में जिसके घर में कोई सौभाग्यशालिनी स्त्री रत्न भूषणों से भूषित हँसती हुई प्रवेश करे तो उसका प्रिय होगा कल्याण होगा। स्वप्न में जिस पर ब्राह्मण, ब्राह्मणी, देवता, देवकन्या अथवा वस्त्राभूषणों से भूषित आठ वर्ष की कन्या सन्तुष्ट हो जाय तो मानों उस पर पार्वतीजी प्रसन्न हो गयीं। स्वप्न में ब्राह्मण, ब्राह्मणी सन्तुष्ट होकर हँसते हुए फल प्रदान करें तो निश्चय ही उसके यहाँ पुत्र होगा। स्वप्न में जिस पर ब्राह्मण प्रसन्न हों, प्रसन्नता पूर्वक उसके घर में प्रवेश करें तो समझो उसके घर में ब्रह्मा, विष्णु तथा शिवजी ने प्रवेश किया है। उसे धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा कीर्ति आदि की प्राप्ति होती है। यदि स्वप्न में गौ के दर्शन हो जायें उसे भूमि तथा पत्नी की प्राप्ति होगी।

स्वप्न में अपनी सूँड़ से हाथी उठाकर जिसे अपने मस्तक पर बिठाले, वह राजा होगा। स्वप्न में ब्राह्मण प्रेमपूर्वक जिसका

आलिङ्गन करे तो समझो उसे तीर्थों के दर्शन स्नान का लाभ होगा। स्वप्न में जो तीर्थों को, रत्न धन से युक्त भवनों को जल से भरे पूर्ण कलश को देखे तो उसे धन धान्य पुत्र लाभ होगा। कोई सुन्दरी हाथ में धान्य पूर्ण पात्र को लेकर प्रवेश करे तो उसे लक्ष्मी की प्राप्ति होगी स्वप्न में कोई दिव्य स्त्री किसी के घर में जाकर मल त्याग करे तो उसे धन की प्राप्ति होगी उसका दारिद्र नष्ट हो जायगा। जिसके घर में ब्राह्मणी सहित ब्राह्मण प्रसन्नता पूर्वक प्रवेश करे तो मानो उसके घर में गौरी शंकर अथवा लक्ष्मी नारायण ही आ गये।

स्वप्न में जिसे ब्राह्मण मोतियों का हार, पुष्प, घृत, चन्दन, गोरोचन, पताका, हल्दी, ईख, बना हुआ चिकना भोजन, दही, सुधा ये वस्तुएँ दे, तो वह पुरुष सुखी होता है। यदि स्वप्न में ब्राह्मण पुस्तक प्रदान करे तो वह कवीन्द्र तथा पंडित होता है। स्वप्न में किसी को कोई स्त्री माता की भाँति पढ़ावे तो वह सरस्वती पुत्र विद्वान् होता है। पिता की भाँति ब्राह्मण यदि पढ़ावे और पुस्तक प्रदान करे तो वह उसी की भाँति पंडित होता है। स्वप्न में कोई मंत्र दे, शिलामयी प्रतिमा प्रदान करे तो उस पुरुष को मंत्रसिद्ध होती हैं। स्वप्न में जो ब्राह्मणों को देखकर श्रद्धा से उन्हें नमस्कार करता है वह या तो राजा होगा या महाकवि होगा। जो स्वप्न में सरोवर, समुद्र, नदी, नद, सफेद सर्प तथा सफेद शैल को देखता है वह जो चाहता है उसे वही मिल जाता है। जो स्वप्न में मृतक को देखता है वह चिरंजीव होता है। स्वस्थ पुरुष को स्वप्न में स्वस्थ पुरुष तथा सुखी पुरुष को देखता है तो वह सुखी होता है। कोई दिव्य स्त्री स्वप्न में आकर कहे—"तुम मेरे पति बन जाओ।" तो निश्चय ही वह पुरुष राजा होता है।

जो स्वप्न में छोटी वालिका, स्फटिक माला, इन्द्रधनुप तथा सफेद धन को देखता है उसे प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है स्वप्न में कोई ब्राह्मण कहे तुम मेरे सेवक बन जाओ तो वह निश्चय ही भगवत् भक्त होगा।

श्रीकृष्णचन्द्रजी कह रहे हैं—' पिताजी ! स्वप्न म विप्र तो भगवान् विष्णु अथवा शम्भुरूप हैं। ब्राह्मणी कमला अथवा पार्वती हैं। शुक्लाम्बर धारिणी स्त्री वेद माता हैं अथवा गंगाजी या सरस्वती जी हैं। गोपालिका वेप धारण करने वाली लडकी मेरा श्री राधा जी हैं। वालक जो है मेरे सखा वाल गोपाल हैं। ये सब सुस्वप्न के फल हैं। ये पुण्यप्रद हैं। अब दु:स्वप्नों को और सुनो।"

श्रीनन्दजी के पूछने पर भगवान् ने दु स्वप्नों को भी बताया है। भगवान् कहते हैं—स्वप्न मे जो हर्प से खिल खिलाकर हँसता है या विवाह बरात को देखता है नाच तथा गान को देखता है। उस पर विपत्ति आती है। स्वप्न मे दाँतों म पीडा, हिलत हुए जा देखता है उसके धन की हानि होगी और शरीर सम्बन्धी पीडा होगी तेल लगाना, दक्षिण दिशा मे जाना, गधा, ऊँट, भैसे पर चढना मृत्यु देने वाले हैं। चूर्ण, जवापुष्प, अशोक, कन्नेर, तेल, लवण ये विपत्ति कारक हैं। शूद्र की काली नाक कटी नग्न स्त्री को स्वप्न म देखे तथा ताल का फल देखे तो शोक देने वाले हैं। क्रोधित ब्राह्मण ब्राह्मणी को, देखने से लक्ष्मी हानि होती है। वनपुष्प, रक्तपुष्प, फूला हुआ पलास वृक्ष, कपास, सफेद वस्त्र दु खद होता है। काल वस्त्र पहिने गाती और हँसता स्त्री, काली विधवा ये मृत्यु के लक्षण हैं।"

स्वप्न में नाचते हुए, गाते हुए तथा हँसत हुए देवता, क्रीडा करते हुए दौड़ते हुए दिखाई दें तो उस देश का नाश होगा।

के–उल्टी-मूत्र, विष्ठा, वैद्य, चाँदी, सोना ये स्वप्न में दीखें तो दश मास में मृत्यु हो। लाल अथवा काले कपड़े पहिने स्त्री, काली माला और काला अनुलेप लगाये संकेत करे तो यह मृत्यु का चिन्ह है। मरा बच्चा, मृग या मनुष्य का कटा शिर और हड्डी की माला पहिने अपने को देखे यह भी मृत्यु चिन्ह है। शरीर में तैल, हविष, दूध, शहद, तक्र अथवा गुड़ लपेटे अपने को देखे तो मरण के चिन्ह जाने उसे पीड़ा होगी। जो अपने को अकेले गधों के रथ में बैठा देखे तो उसकी शीघ्र मृत्यु हो।

गिरे हुए नख और बुझे हुए अंगार, सम्पूर्ण चितायें मृत्यु के लक्षण हैं, स्मशान, सूखी लकड़ी, सूखीघास, लौह, स्याही तथा और भी काली वस्तुओं को स्वप्न में देखे तो दुःख मिले। पादुका, चाकू, रक्तपुष्पमाला, भयानक वस्तु, उड़द, मसूर तथा मूँग आदि देखे तो समझो फोड़ा होगा। काँटा, सरल, कौआ, भालू, वानर, गदहा, राध तथा शरीर का मैल देखे तो रोग हों। फूटा घड़ा, घायल शूद्र, गलित कुष्ठ वाला रोगी, लाल कपड़ा पहिने जटाजूट धारी मनुष्य, सूअर, भैंसा, गधा, घोर अधकार भयानक मरा जीव, योनि तथा लिङ्ग को स्वप्न में देखने से घोर विपत्ति आती है। पाशहस्त हाथ मे अस्त्र-शस्त्र लिये पुरुष को देखना मृत्यु सूचक है। कुवेशरूप म्लेच्छ, भयङ्कर यमदूत, ये भी मृत्यु सूचक हैं। ब्राह्मण, ब्राह्मणी, लड़का, लड़की इनको क्रोध करते देखे तो दुःख प्राप्त हो। कालापुष्प व माला, शस्त्र धारी पुरुष तथा म्लेच्छ विकृतरूप ये मृत्यु के चिन्ह हैं। वाटिका में नाचना, गान करती हुई लाल कपड़े पहिने स्त्रियाँ मृदंगादि बाजे बजाती हुई ये अपशकुन कारक हैं। मछली लिये देखने से भाई की मृत्यु हो, स्वप्न में जिसके दाँत, केश गिर गये हों

उसकी धन हानि होगी शारीरिक पीडा होगी। स्वप्न में सींग वाले दाढ वाले जिसके साथ उपद्रव करें वह चाहे बालक हो या बड़ा उसे राजा से भय होगा। कटे हुए वृक्ष को गिरा देखकर, शिलावृष्टि, भूसी, छुरा, लाल अगारे तथा भस्मवृष्टि देखकर दुःख प्राप्त हो। गिरता हुआ घर या पर्वत भयानक धूमकेतु, कटा शिर देखकर दुःख प्राप्त हो। विरोधी जो कौआ, कुत्ता, भालू, जिसके शरीर पर आकर गिरें ये मृत्यु के चिन्ह हैं। भैंसा, भालू, ऊँट, शूकर गदहा, क्रुद्ध होकर जिसके पीछे स्वप्न में दोडें वह निश्चय ही रोगी हो।

इस प्रकार ये दुःस्वप्न के फल बताये। इनकी शांति के लिये लाल चन्दन को घृत में डुबोकर एक सहस्र गायत्री मत्र से हवन करना चाहिये इससे शांति होगी। जो भगवान् के सहस्र नामों का भक्तिपूर्वक जप करता है वह निष्पाप हो जाता है। उसके दु स्वप्न सुस्वप्न हो जाते हैं। अच्युत, केशव, विष्णु, हरि, सत्य जनार्दन, हस और नारायण, इन आठ नामों को जो पूर्व मुख होकर दश बार जपता है, वह निष्पाप हो जाता है। जो विष्णु, नारायण, कृष्ण माधव, मधु-सूदन, हरि, नरसिंह, रामगोविन्द, दधिवामन इन दश नामों को पवित्र होकर जपता है उसके दुःस्वप्न सुस्वप्न मे परिणित हो जाते हैं।*

---

* अच्युत केशव विष्णु हरि सत्य जनार्दनम् ।
हस नारायमन्वैव एतन्नामाष्टक शुभम् ॥
शुचि पूर्वमुखो प्राज्ञो दशकृत्वश्च यो जपेत् ।
निष्पापो हि भवेत् सोऽपि दुस्वप्न सुस्वप्नो भवेत् ॥
विष्णु नारायण कृष्ण माधव मधुसूदनम् ।
हरि नरहरि राम गोविन्द दधिवामनम् ॥

इस प्रकार हम देखते हैं, शास्त्रों में दुःस्वप्न और सुस्व का विषद वर्णन है। उनके फल तथा प्रायश्चित्तों का वर्णन है। अतः स्वप्न मे जो पुरुष देखता है वह आत्मा निर्मित आत्मज्योति वाला आत्मज्योति से ही देखता है अब आगे आत्मज्योति के सम्बन्ध में श्रुति बताती है। आ के स्वरूप का वर्णन करती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज जनक ने या वल्क्यजी से आत्मा के सम्बन्ध मे जिज्ञासा करते हुए पूछा- "कि भगवन् वह आत्मा कौन है?"

तब याज्ञवल्क्यजी ने उत्तर देते हुए कहा—"राजन्! य जो प्राणों मे-इन्द्रियों मे-बुद्धिवृत्तियों के भीतर रहने वा विज्ञानमय अत्यन्त ज्ञान वाला-ज्योति स्वरूप पुरुष है, व समान-स्वातन्त्राभिमान युक्त-बुद्धि वृत्तियों के समान होक इस लोक मे तथा परलोक में-दोनों लोकों मे गमन करता है वह ध्यान करते हुए के समान अभिलाषा चेष्टा करते हुए के समान चेष्टा करता है। वही स्वप्न बनकर इस लोक का अति

शुचि. पूर्वमुखो भूत्वा भक्ति श्रद्धायुतो जपेत्।
निष्पापोहि भवेत् सोऽपि दुःस्वप्नः सुस्वप्नो भवेत्॥
ॐ शिव दुर्गा गणपतिं कार्तिकेय दिनेश्वरम्।
धर्मं गगाञ्च तुलसी राधा लक्ष्मी सरस्वतीम्।
नामान्येतानि भद्राणि जले स्नात्वा च यो जपेत्॥
वाञ्छितञ्च लभेत् सोऽपि दुःस्वप्नः सुस्वप्नो भवेत्।
ॐ ह्री श्री क्ली पूर्वं दुर्गति नाशिन्यै महामायायै स्वाहा॥
कल्पवृक्षो हि लोकाना मन्त्रः सप्तदशाक्षरः।
शुचिञ्च दशधा जप्ता दुःस्वप्नो सुस्वप्नो भवेत्॥

क्रमण करता है। अर्थात् देह तथा इन्द्रियों के बिना ही नाना दृश्यों को देखता है। और संसार के दुःख रूप मनुष्यादि शरीर के मृत्यु रूप का भी अतिक्रमण करता है, वही आत्मा है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह आत्मा की परिभाषा भली भाँति समझ में आयी नहीं।"

सूतजी बोले—"भगवन्! जो हृदय में रहकर अन्तःकरण की वृत्तियों का संचालन करता है। स्वप्नावस्था में बिना पांच भौतिक देह तथा इन्द्रियों के नाना दृश्य देखता है और जो कभी भी मरता नहीं साक्षी रहकर-दीपवत-सभी क्रियाओं को देखता रहता है, वही आत्मा है।"

शौनकजी ने पूछा—"जब वह अकर्ता है, तो फिर देखना, सुनना आदि कर्मों को कैसे करता है?"

सूतजी बोले—"जब वह आत्मा जीव रूप से औपाधिक देह को धारण करता है। अर्थात् पुरुष रूप में उत्पन्न होने पर शरीर को आत्मभाव से प्राप्त होता है। अर्थात् शरीर धारण करके अपने को मैं देवदत्त हूँ, मैं यज्ञदत्त हूँ, मैं विष्णुमित्र हूँ ऐसे कहने लगता है, तब देह और इन्द्रियों के ससर्ग से पापों से संश्लिष्ट हो जाता है। अहंकार से विमूढ़ हुआ जीवात्मा जब अपने को कर्ता मानने लगता है, तब कर्ता को तो पुण्य कर्मों का पुण्य और पाप कर्मों का पाप भोगना ही पड़ता है। जब अहकार का परित्याग करके चरम शरीर से ऊपर उठ जाता है-ज्ञान प्राप्त होने पर शरीर से उत्क्रमण करता है तब समस्त पापों का परित्याग कर देता है।

इस पुरुष के भोग के-क्रीड़ा के-इहलोक और परलोक दो ही स्थान हैं। इस लोक में देह और इन्द्रियों द्वारा नाना पुण्य-कर्म पापकर्म करता है और सुख-दुख का उपभोग करता है।

मरने पर परलोक मे पापों का भोग नरकादि पापलोकों में तथा पुण्यो का भोग स्वर्गादि पुण्यलोकों में करता है। मुख्यतया तो जीवात्मा के उपभोग के इहलोक और परलोक ये ही स्थान हैं इन दोनों के अतिरिक्त इसके भोग का एक तीसरा भी स्थान है स्वप्नलोक।"

शौनकजी ने कहा—"स्वप्न मे तो कुछ होता ही नहीं, वहाँ भोग किसका करता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! है कहाँ ? न कुछ इस लोक में है न परलोक में। ये सब भोग भी स्वप्न के ही समान हैं। लोक परलोक के भोग भी स्वप्नवत् हैं। स्वप्न के भोग अल्पकालीन हैं। ये दीर्घकालीन हैं। स्वप्न का स्थान सन्ध्यस्थान है। अर्थात लोक के भोगो मे लोकसम्बन्धी ही स्थान दीखते हैं, परलोक में परलोक सम्बन्धी ही स्थान दीखते हैं, किन्तु स्वप्न में तो लोक परलोक दोनों को ही जीवात्मा देखता है। स्वप्न में कभी-कभी स्वर्ग मे भी जाकर स्वर्गीय सुखों को भी भोगते हैं। कभी इस लोक के सुख-दुखों का भी अनुभव करते हैं। अतः स्वप्न स्थान मिला-जुला सन्ध्यस्थान है। परलोक में जैसे पुण्य पाप रूप साधन से सम्पन्न होता है उस साधन का आश्रय लेकर पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख दोनों का ही अनुभव करता है। इस लोक में प्रारब्धकर्मो का ही भोग भोगता है।

जब यह पुरुष सोता है, तब स्वप्नावस्था में नाना दृश्यों को देखता है। उस समय यह स्थूल शरीर तो शैया पर अचेत पड़ा रहता है, इन्द्रियाँ निश्चेष्ट होकर प्रसुप्त बनी पड़ी रहती हैं। उस समय आत्मा एक वासनामय स्वय ही स्वप्नशरीर की रचना करता है। उस समय सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा वाणी की ज्योति नहीं रहती। आत्मा अपनी ही ज्योति से समस्त क्रीड़ाओं को

करता है। उस स्वप्नावस्था में पुरुष स्वयं ज्योतिस्वरूप हुआ करता है।

स्वप्न में हम देखते हैं—एक सुन्दर रथ पर जिसमें सुन्दर हृष्ट पुष्ट चार घोड़े जुते हैं, उसमें बैठकर छायादार सुन्दर विस्तृत सड़क से जा रहे हैं। मार्ग के दृश्यों को देखते हुए मन में बड़ी प्रसन्नता हो रही है, अनुकूल दर्शन से उत्पन्न मानसिक प्रीति के कारण आनन्द का अनुभव हो रहा है। छोटे-छोटे कुण्ड दिखायी दे रहे हैं, सरोवरों में कमल खिल रहे हैं, द्रुतगति से सरिता दौड़ रही हैं। अब वास्तव में देखा जाय तो हमारा शरीर तो शैया पर पड़ा है। इन्द्रियाँ प्रसुप्त हैं। घर के भीतर छोटी-सी कोठरी में सो रहे हैं। उस कोठरी में रथ आ भी नहीं सकता। रथ की कोई वस्तु वहाँ प्राप्त नहीं है। रथ में जोते जाने वाले अश्वों का वहाँ अस्तित्व नहीं। न वहाँ चौड़ी सड़क की सम्भावना है, किन्तु सुन्दर रथ, दर्शनीय हृष्ट पुष्ट घोड़े तथा सघन वृक्षों से युक्त सुविस्तृत पथ इन सब वस्तुओं की रचना आत्मा स्वयं कर लेता है। अनुकूल दर्शन से उत्पन्न होने वाला सुख विशेष को आनन्द कहते हैं। पुत्रादि प्राप्ति की वार्ता सुनकर जो एक प्रकार की प्रसन्नता होती है, उसे मोद कहते हैं, किसी सुन्दर कार्य में विनियोग होने से जो हर्ष होता है उसे प्रमोद कहते हैं। उस समय स्वप्न में आनन्द, मोद, प्रमोद का अवसर नहीं फिर भी आत्मा इनकी स्वतः ही रचना कर लेता है। उस सोने वाली कोठरी में छोटी-छोटी तलैयाँ, पुष्करिणी—पोखर—बहने वाली नदियों का अस्तित्व सम्भव नहीं किन्तु आत्मा ताल तलैयाँ, पुष्करिणी, सरोवर, नदियाँ आदि की रचना स्वय ही कर लेता है। कहने का साराश इतना ही है, कि वहाँ ये बाह्य पांचभौतिक दृश्य कुछ भी नहीं रहते, न दृश्य रहते हैं, न देखने के साधन।

किन्तु फिर भी आत्मा दृश्यों की, दृश्य देखने के साधनों की, दृश्य देखने से जो हर्ष, प्रमोद, आनन्द, सुख, प्रीति, आमोदादि होता है उन सबकी रचना स्वतः ही कर लेता है। देखने की साधनभूता सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा वाणी की ज्योति न होने पर भी आत्मा अपनी ज्योति से ही सबको देखता तथा अनुभव करता है।

प्राचीन काल की कहावतों में स्वप्न के सम्बन्ध का एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध है। उस श्लोक का भाव यह है कि आत्मा इस पांचभौतिक शरीर को तो स्वप्नावस्था में निश्चेष्ट बना देता है। शरीर तो पड़ा सोता रहता है, किन्तु आत्मा स्वयं जागता हुआ प्रसुप्त समस्त पदार्थों को स्वयं ही रचकर उन्हें प्रकाशित करता है। वह स्थूल इन्द्रियों को प्रसुप्त बनाकर शुद्ध इन्द्रिय मात्रा को लेकर फिर से जागरित स्थान में आता है। वह हिरण्मय प्रकाशमय-ज्योतिःस्वरूप आत्मा जो हंस स्वरूप है अकेला ही विचरण करता है। कभी इस लोक के दृश्यों को देखता है, तो कभी परलोक के भी दृश्यों को देखता तथा अनुभव करता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जब जीवात्मा बाहर चला जाता है, तो यह शरीर मृतक क्यों नहीं हो जाता ? क्योंकि जीवात्मा के रहते हुए ही शरीर जीवित कहलाता है, जब जीवात्मा इसमें रहता ही नहीं तब यह प्रसुप्त पड़ा शरीर जीवित कैसे रहता है ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! यह स्थूल शरीर तो अवर है-निकृष्ट-है, जीवात्मा पंचप्राणों को इस शरीर में ही छोड़ जाता है। जैसे घोंसले में बैठा पक्षी अपने अंडों को घोंसले में छोड़कर दूर-दूर चुग्गा चुगने के लिये बाहर चला जाता है, फिर लौटकर

अपने घोंसले में आ जाता है। जब घोंसले का प्रयोजन समाप्त हो जाता है, तब घोंसले को भी छोड़कर चला जाता है। पक्षी घोंसला रहने के लिये नहीं बनाया करते, अंडा देने को बनाते हैं, जब तक अंडे रहते हैं, तभी तक वे घोंसले मे आत-जात रहते हैं। जब अंडों मे से बच्चे निकल आते हैं और वे उड़ने योग्य हो जाते हैं, तब उस घोंसले को छोड़कर सदा के लिये चल जाते हैं। दुबारा फिर उन्हे अंडे रखने होते हैं, तो दूसरा घोंसला बनाते हैं। इसी प्रकार जीवात्मा भी एक सुन्दर पख वाला हंस नाम का पक्षी है। वह प्रारब्धकर्म रूपी भोग भोगन–अंडा देने–को इस घोंसला रूपी देह को बनाता है, स्वप्नावस्था में यद्यपि यह अकेला ही विचरण करने बाहर जाता है, किन्तु उस समय शरीर रूप घोंसले मे उसके अंडे बच्चे रूप प्राण रहे आते हैं। उनके रहने के कारण वह बाहर घूम फिर कर फिर देहरूप घोंसले में लौट आता है। जब अंडों मे से बच्चे हो जाते हैं वे उड़ने लग जाते हैं–प्रारब्ध भोग समाप्त हो जाते हैं, तब यह जीवात्मारूप हंस पक्षी सदा के लिये इस शरीररूप घोंसले को छोड़कर चला जाता है, फिर इस शरीर में लौटकर नहीं आता। दुबारा यदि इसे फिर अंडे रखने होते हैं–संचित कर्मों मे से फिर इसे प्रारब्ध कर्मों का भोग भोगना पड़ता है तो दूसरा घोंसला–शरीर–धारण करना पड़ता है। वह अकेला ही परिभ्रमण करने वाला सोने के पंखों वाला–हिरण्मय पुरुष जीवात्मा, जहाँ-जहाँ वासना होती है, स्वप्न मे जाग्रत में वहीं-वहीं चला जाया करता है।"

स्वप्नावस्था में जीवात्मा इस लोक तथा परलोक के सुख-दुःखों का अनुभव करता है। ऊँच तथा नीच भावों को प्राप्त है। वह बहुत रूप बना लेता है। स्वप्न में बहुत-सी

निर्माण कर लेता है उनके साथ क्रीड़ा करता है, रति सुख व आनन्दानुभव करता है, स्त्रियों के साथ सुहृद मित्र तथा परिवार वालों के साथ हँसी विनोद ठट्ठा करता है। हँसता खेलता है इसके विपरीत स्वप्न में उसे कभी सर्प, सिंह व्याघ्रादि हिंसक पशु भी दीखते हैं, उनसे भयभीत होकर थर-थर काँपने लगता है। दुःख का अनुभव करता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी स्वप्न की वस्तुओं को तो सभी लोग देखते हैं, किन्तु जो स्वप्न देखता है, स्वप्नावस्था की वस्तुओं का उपभोग करता है, उसे कोई क्यों नहीं देखता?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! जो वस्तु अतिसूक्ष्म होती है वह दिखायी नहीं देती। जीवात्मा अतिसूक्ष्म है, अतः इसे कोई नहीं देख सकता। हाँ, इसके लगाये हुए-उपकरण भूत-इस स्वप्नावस्था के कृत्रिम उपवन को-स्वप्न निर्मित पदार्थों को-ही सब लोग देखते हैं। जो इस शरीर के बाहर भीतर आता-जाता रहता है-संचार करता है-उस जीवात्मा को कोई नहीं देखता। वह जीवात्मा इस शरीर इन्द्रियादि से विवक्त है। इसीलिये वह सबको दिखायी नहीं देता। यद्यपि वह प्राणों को शरीर में छोड़कर बाहर क्रीड़ा करने जाता है, फिर भी संस्कारों के कारण उसकी वासना तो शरीर में बनी ही रहती है, इसीलिये वह फिर लौटकर शरीर मे आ जाता है। इसीलिये सोये हुए पुरुष को सहसा न जगावे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सोये हुए पुरुष को सहसा क्यों न जगावे? स्वप्न मे तो वह उन्हीं पदार्थों को देखता है, जिन्हें उसने जाग्रत अवस्था में देखे हों, इसलिये उस जीवात्मा का स्वप्न स्थान तो यही जाग्रत अवस्था वाला शरीर है सहसा जगा देने से क्या हानि होगी?"

सूतजी ने कहा—"नहीं, ब्रह्मन्! स्वप्न की अवस्था मे यह पुरुप स्वय ज्योति होता है उस समय वह जाग्रत अवस्था के अतिरिक्त भी अन्य जन्मों मे किये हुए कर्मों का अनुभव करता है। चिकित्सकों का कहना है, स्वप्न मे कोई ऐसी घटना का अनुभव कर रहा हो, जो इसने इस जन्म मे कभी न की हो और उसी दशा में उसे सहसा जगा दिया जाय, तो ऐसी दशा में उसे जगा देने से उसका शरीर दुश्चिकित्स्य हो जाता है। अतः सोते हुए पुरुप को या तो जगाना ही नहीं चाहिये यदि जगावे भी तो शनैः-शनैः उसके अङ्गों को दबाकर प्रेमपूर्वक जगावे।"

शौनकजी ने पूछा—"सहसा जगाने से क्या अनिष्ट होता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! स्वप्न में कोई अत्यन्त लज्जाजनक प्रसङ्ग देख रहा हो, और सहसा जगा दो, तो उस समय पुरुप लज्जा से गड जाता है। या कोई ऐसा प्रसग कर रहा हो जिसका ज्ञान उसे इस शरीर मे न रहा हो, तो उसकी मृत्यु भी हो जाती है। इस विषय की में आपको एक प्रत्यत्त घटना सुनाता हूँ।"

आपने देखा होगा, बहुत से लोग स्वप्न मे उठकर चलने लगते हैं। बहुत से स्वप्न मे कोशों दूर चले जाते हैं। एक पुरुप स्वप्न में उठकर नदी में तैरा करता था। फिर आकर वह अपनी शैया पर सो जाता। उसके भाई ने कई दिन उसके वस्त्रों को भीगा देखा। उसने सोचा—इसके वस्त्र नित्य क्यों भीग जाते हैं। इसको खोज करने वह एक दिन जागता रहा। जब वह स्वप्न मे उठकर चला, तो उसका भाई भी उसके पीछे-पीछे गया। वह नदी मे स्वप्न मे ही तैरने लगा। जब वह गहरे पानी मे तैर रहा था तभी उसके भाई ने उसका नाम लेकर पुकारा। वह जाग गया। इस जन्म मे वह तैरना जानता नहीं था, जागते ही

डूब गया और मर गया। तैरने के संस्कार उसके जन्मान्तर के थे इसलिये जिस इन्द्रिय प्रदेश में पुरुष सोया हुआ हो उस अवस्था मे उसे जगा देने से इस शरीर पर विपत्ति आ जाती है, उसकी चिकित्सा करना फिर कठिन हो जाता है। अतः स्वप्न मे पुरुष स्वयं ज्योति होता है, उसकी आत्मा ही उस समय उसके देखने का साधन है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब याज्ञवल्क्यजी ने राजा जनक को आदित्य ज्योति, चन्द्र ज्योति, अग्नि ज्योति, वाणी ज्योति और आत्म ज्योति के सम्बन्ध मे उपदेश दिया। स्वप्न मे पुरुष आत्म ज्योति से देखता है इसे बताया, तब राजा ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"ब्रह्मन्! मैं इस कृपा के लिये आपके चरणारविन्दो में एक सहस्र सुवर्ण मुद्रा भेंट करता हूँ। अब आगे आप मुझे मोक्षमार्ग का उपदेश दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब आगे याज्ञवल्क्यजी सुषुप्ति के भोग से आत्मा की असंगता है, इसका वर्णन जैसे करेंगे, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

—०—

छप्पय

[१]

पुरुष जनम के समय आतमभावहिं तन पावै।
पापनि तैं संश्लिष्ट मरत पापनि बिसरावै॥
स्वप्न, लोक, परलोक स्वप्न में दोउनि जोवै।
आनँद दुख अनुभवै देह शैयापै सोवै॥
देहशासनामय रचै, स्वयं ज्योति बनि सब लखै।
रथ, हय, पथ, सर नदी नहिं, मोद न परि स्वप्नहिं दिखै॥

[२]

करि शरीर निश्चेष्ट जगै जग वस्तु प्रकासै।
शुक्र लाइ निज थान हंस एकाकी धावै॥
अधम देह वह रचि वासना जहँ तहँ जावै।
ऊँच नीच कूँ प्राप्त पुरुष बहु रूप बनावै॥
रतिसुख, हँसी, विनोद, भय, स्वप्नमाहिँ सब अनुभवै।
क्रीड़ा सामग्री लखै, सब-परि तिहिँ कोइ न लखै॥

[३]

स्वप्नमाहिँ तन छोड़ि पुरुष सब दिशि में जावै।
तातैं सोवत पुरुष न सहसा भूलि जगावै॥
स्वयंज्योति वह पुरुष स्वप्न जन्मान्तर देखै।
लोक और परलोक दृश्य सबही के पेखै॥
सहसा जगि पागल मरन, होवै अनरथ भावना।
जनक तुष्ट बहु भेंट करि, करी मोक्ष की कामना॥

याज्ञवल्क्य द्वारा जनक को आत्मज्ञो का उपदेश (३)

[२४७]

स वा एष एतस्मिन् बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव ॥*

(बृ० उ० ४ अ० ३ ब्रा० १७)

छप्पय

स्वप्न सुषुप्तिहु माहिँ पुण्य अघलखि पुनि आवै।
है असङ्ग निरलिप्त पुण्य अघनहिँ लिपटावै॥
जैसे भारी मत्स्य उभय सरिता तट बिचरै।
स्वप्न जागरित माहिँ पुरुष त्यों उभय सचरै॥
नभ में श्येन सुपर्ण खग, उड़ि निज खोंतर में घुसै।
त्यों सुषुप्ति की ओर यह, पुरुष रहित भोगहिँ बसै॥

ब्रह्माजी जब ग्वाल बाल और बछड़ों को चुरा ले गये त
श्रीकृष्ण की अवस्था ५ वर्ष की थी। किन्तु जब वे ६ वर्ष के हु

---

* जाग्रत अवस्था मे वह यह पुरुष रमण करके, विहार करके तथ पुण्य और पाप को देखकर पुन उसी मार्ग से जिस मार्ग से वह पहिले आया था, अपने यथास्थान—स्वप्न स्थान—को लौट जाता है।

तब ग्वाल बालों ने अपने घरों में कहा था आज श्रीकृष्ण ने अघासुर को मारा है। इस पर महाराज परीक्षित् ने शंका की—"भगवन्! पाच वर्ष की अवस्था मे किये हुए कृत्य को बालकों ने ६ वर्ष की अवस्था में 'आज किया' ऐसा क्यों कहा? यह एक वर्ष कहाँ गया?"

यह बड़ा सूक्ष्म प्रश्न है। इस शंका को वही श्रोता कर सकता है, जो कथा कहने वाले वक्ता के एक-एक अक्षर को एकाग्रचित्त से ध्यान लगाकर सुने। राजा की इस शंका को सुनकर श्रीशुकदेवजी अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और बोले—"राजन्! आप तो कथा को इतने ध्यान पूर्वक एकाग्रचित्त से तन्मय होकर ऐसे सुनते हैं जैसे पर-स्त्री गामी जार लम्पट पुरुष व्यभिचारिणी स्त्रियों की चर्चा को ध्यान पूर्वक नया-नया रस लेकर बारम्बार पूछ-पूछकर सुनते हैं।" (स्त्रियाविटामिव साधु वार्ता) इस पर शंका करने वाले शंका करते हैं-'परमहंस चक्रचूड़ामणि यतीन्द्र शिरोमणि वीतराग भगवान् शुकदेवजी ने ऐसा अश्लील दृष्टांत क्यों दिया। परम भगवत् भक्त महाराज परीक्षित के श्रवण की तुलना परस्त्रीगामी लम्पट जार पुरुषों से क्यों की? क्या उनको कई दूसरी उपमा नहीं मिली? उपमा देने को उनके पास कोई दूसरी उपमा नहीं थी क्या?

वास्तव में देखा जाय तो चाहे अश्लील ही क्यो न हो, इससे बढ़कर कथाप्रिय भगवत् भक्त की दूसरी उपमा खोजने पर भी नहीं मिल सकती। स्त्री लम्पट जार पुरुष जैसा रस लेकर बार-बार अपनी चाहने वाली स्त्री के सम्बन्ध मे पूछते हैं, वैसी तन्मयता की उपमा संसार भर में खोजने पर भी नहीं मिल सकती। इसी प्रकार मुक्ति सुख की उपमा अनेक स्थानों में सुषुप्ति अवस्था के साथ दी गयी है। वास्तव मे देखा जाय तो सुषुप्ति

अवस्था के सुख मे और मुक्ति के सुख मे आकाश पाताल का अन्तर है। मुक्त पुरुष का तीनों काल मे शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं रहता और सुषुप्ति तो जीव की एक अवस्था मात्र है। जैसी जाग्रत, स्वप्न अवस्थायें वैसी ही सुषुप्ति अवस्था। तीनों ही अवस्थायें बन्धन का हेतु हैं। किन्तु जहाँ सुषुप्ति की समता समाधि सुख के साथ की गयी है वहाँ केवल सोते समय पुरुष को रोग, दुःख सुख, चिन्ता, ग्लानि का भान नहीं होता। इसी प्रकार मुक्त पुरुष हर्ष शोकादि द्वन्द्वों से विमुक्त होता है। किन्तु सुषुप्ति की समाप्ति के अनन्तर पुरुष पुनः द्वन्द्वों का अनुभव करने लगता है। मुक्त पुरुष द्वन्द्वो से सदा के लिये रहित हो जाता है। सुषुप्ति अवस्था का जो भोग है आत्मा उससे भी असग है। इसी बात को आगे सिद्ध करेंगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महाराज जनक के मुक्ति सबधी प्रश्न के उत्तर मे याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"राजन् ! चाहे पुरुष सुषुप्ति अवस्था मे रहे चाहे स्वप्नावस्था मे रहे अथवा जाग्रत अवस्था मे रहे। आत्मा इन तीनो ही अवस्थाओं में असग रहता है। मान लो स्वप्नावस्था से पुरुष सुषुप्ति-सम्प्रसाद में चला जाता है। स्वप्न देखते-देखते पुरुष प्रगाढ़ निद्रा मे चला जाता है उस सुषुप्ति अवस्था मे वह रमण विहार के सुख का अनुभव-सा करता है। सुषुप्ति अवस्था मे एक अपूर्व सुख की अनुभूति होती है, स्वप्न के सदृश वहाँ कोई दृश्य दिखायी नहीं देते। किन्तु उस सुषुप्ति अवस्था के सुख से जीवात्मा सम्बद्ध नहीं होता। उस सुषुप्ति अवस्था मे वह पाप पुण्य का कर्ता नहीं होता। केवल साक्षी बना देखता रहता है। उस सुषुप्ति अवस्था के आनद का अनुभव करके–उसे–देखकर–जैसे स्वप्नावस्था से आया था वैसे ही उसी स्वप्नावस्था को लौट आता है। वहाँ सुषुप्ति में

उसने जो भी कुछ देखा--अनुभव किया--उससे वह आत्मा निर्लिप्त--असम्बद्ध--रहता है। सुख का अनुभव करके भी उससे असम्बद्ध क्यों रहता है ? क्योंकि आत्मा का स्वरूप ही असङ्ग है। इसलिये स्वप्नावस्था से सुषुप्ति अवस्था में जाने पर भी वहाँ कुछ कार्य नहीं करता। उस सुख को द्रष्टा बनकर देखकर फिर जहाँ से आया था वहीं लौट आता है। यह तो सुषुप्ति अवस्था की आत्मा की असङ्गता रही।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! इस कथन से तो ऐसा प्रतीत होता है, कि जीवात्मा जाग्रत अवस्था से सीधा सुषुप्ति की ओर नहीं जाता। स्वप्न से सुषुप्ति की ओर जाता है फिर और सुषुप्ति से ही स्वप्नावस्था में लौट आता है। कभी-कभी हम पड़ते ही प्रगाढ़ निद्रा में तन्मय हो जाते हैं और प्रगाढ़ निद्रा से तुरन्त जग भी जाते हैं। फिर इस स्थान में स्वप्न से सुषुप्ति मे जाने और सुषुप्ति से स्वप्न में ही लौटने को क्यों कहा ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! बिना स्वप्नावस्था के सहसा प्रगाढ़ निद्रा कभी नहीं आती। उस समय चाहे क्षण भर को ही सही स्वप्नावस्था होती है और स्वप्नावस्था से ही सुषुप्ति में जाया जाता है। प्रगाढ़ निद्रा जब समाप्त होती है, तो सहसा जाग नहीं जाते फिर कुछ देर को--चाहे क्षण भर को ही सही--स्वप्नावस्था होती है। प्रातः काल ब्राह्म मुहूर्त मे निद्रा समाप्त होने पर स्वप्न देखते हैं और ऊषाकाल के स्वप्न प्रायः सत्य होते हैं। अतः साधारण नियम यही है कि स्वप्नावस्था से सुषुप्ति अवस्था मे जाते हैं और सुषुप्ति से पुनः स्वप्नावस्था मे लौटकर तब जागते हैं। प्रगाढ़निद्रा में सोये पुरुष को सहसा कोई जगा दे तो वह रुग्ण हो जाता है। इसीलिये इस ऋचा मे स्वप्नावस्था

से सुपुप्ति में जाने और फिर स्वप्नावस्था में लौटने की बात कही। जीवात्मा सुपुप्ति के कार्य से बँधता नहीं।

स्वप्नावस्था से सुपुप्ति मे जाने और फिर लौटने तथा उस कार्य मे असम्बद्ध होने की बात सुनकर महाराज जनक परम प्रमुदित हुए उन्होंने कहा—"आप ने यथार्थ बात बतायी, इस ज्ञान के उपलक्ष्य मे मैं गुरुदक्षिणा स्वरूप आपको सहस्र (मुद्रा अथवा धेनु) अर्पण करता हूँ। इससे आगे भी आप मुझे मोक्ष का उपदेश दें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! राजा की जिज्ञासा देखकर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"राजन्! जैसे स्वप्नावस्था से सुपुप्ति मे जाकर फिर स्वप्नावस्था मे ही लौट आने पर भी पुरुष पाप पुण्य से लिप्त नहीं होता, वैसे ही यह आत्मा स्वप्नावस्था में नाना रमणियों के साथ विहार करके, नाना दृश्यों का अवलोकन करके पुण्य पाप का केवल द्रष्टा मात्र ही बनकर जिस प्रकार जाग्रत अवस्था से स्वप्नावस्था में आया था फिर वहीं जाग्रत मे लौट आता है। वह स्वप्नावस्था मे जो भी कुछ देखता है सुनता है, अनुभव करता है उनसे सश्लिष्ट नहीं होता- लिप्त नहीं होता- क्योंकि यह पुरुष असग है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप पीछे तो कह आये हैं, कि पुरुष स्वप्नावस्था से सुपुप्ति मे जाता है और अब कहते हैं स्वप्नावस्था से लौटकर जाग्रत मे आता है, यह क्या बात हुई?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! स्वप्नावस्था देहरी की भाँति मध्य की अवस्था है। जैसे पुरुष देहरी तक जाकर फिर लौट भी सकता है देहरी को लाँघकर भीतर भी जा सकता है। स्वप्ना-वस्था से सुपुप्ति में भी जाते हैं और स्वप्नावस्था से सहसा जाग्रत

में भी लौट आते हैं। वहाँ स्वप्न से सुषुप्ति में जाकर स्वप्न में ही लौट आने का वर्णन था। यहाँ जाग्रत से स्वप्न में जाकर जाग्रत में ही लौटने का वर्णन है। भगवती श्रुति का अभिप्राय इतना ही है कि यह पुरुष चाहे जाग्रत के दृश्य देखे, चाहे स्वप्न के अथवा सुषुप्ति के, तीनों ही अवस्थाओं में यह असङ्ग असश्लिष्ट—निर्लिप्त बना रहता है। महाराज जनक ने पुनः याज्ञवल्क्यजी को सहस्र मुद्रा अथवा सहस्र धेनु देने की प्रतिज्ञा करके फिर आगे मोक्ष सम्बन्धी उपदेश की जिज्ञासा की। तब याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"राजन्! जैसे स्वप्न और सुषुप्ति की बात है वैसे ही जाग्रतावस्था की बात है। स्वप्नावस्था से यह पुरुष जाग्रत-अवस्था में आता है तो यहाँ भी भाँति भाँति की क्रीड़ा करता है, रमण-विहार करता है, आनन्द प्रमोद करता है। पाप-पुण्य का द्रष्टा होता है, फिर जैसे स्वप्न से जागरित अवस्था में आया था वैसे ही लौटकर स्वप्न स्थान में चला जाता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! स्वप्न में और सुषुप्ति में तो पुरुष कुछ करता नहीं, पाप पुण्यों को भोगता नहीं, किन्तु जाग्रत अवस्था में तो कर्मों को करता है, पाप का फल दु:ख और पुण्य का फल सुख इसका उपभोग करता है। अतः जाग्रतावस्था में यह नि:सग तथा निर्लिप्त कैसे बना रहता है।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! जीवात्मा तो अज है, शाश्वत है निर्लिप्त है। वह देह और इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के ससर्ग के कारण व्यवहार करता सा दिखायी देता है। अहकार के कारण विमूढ सा बनकर अपने को कर्ता मान बैठता है। वास्तव में यह कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं, कर्मों में आसक्त नहीं। वह दीपक की भाँति द्रष्टा मात्र है। जैसे दीपक अपने प्रकाश से सब वस्तुओं को प्रकाशित कर देता है, उसके प्रकाश में चाहे पुण्य करो या

पाप, दीपक न पुण्य के लिये प्रेरणा देता है न पाप के लिये म
करता है। उसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा वाणी के प्रकाश व
आवश्यकता नहीं वह स्वयं प्रकाश है वह आत्मज्योति द्वारा
अवभासित रहता है।"

जैसे कोई बड़ा भारी मत्स्य है, नदी में रहता है वह नदी
पूर्व तथा अपर दोनों ही तीरों पर क्रमशः सञ्चार करता रहत
है। कभी इस किनारे आकर आनन्द लेता है, कभी उस
किनारे रमण करता है। इसी प्रकार यह जीवात्मा पुरुष स्वप्न
तथा जागरित दोनों में ही घूमता रहता है।

अब रही सुषुप्ति अवस्था। वह उसके विश्राम का स्थान है।
जब स्वप्न जाग्रत के भोगों को भोगता-सा हुआ, इनका आनंद-
सा लेता हुआ श्रमित-सा हो जाता है तब एकान्तिक आनंद
की अनुभूति-सी करने के लिये सुषुप्ति में जाकर प्रगाढ़ निद्रा में
सब कुछ भुला-सा देता हुआ वहाँ जाकर विश्राम लेता है। जैसे
कोई बाज पक्षी है अथवा बड़ा गरुड़ है। वे बड़े भारी वृक्ष में
खोतर- संलय–बनाकर रहते हैं। तो पंखों को फैलाकर यथाशक्ति
आकाश में उड़ते रहते हैं। उड़ते-उड़ते जब थक जाते हैं तब
पंखों को फैलाकर अपने खोंतर की ओर आते हैं और पंखों को
सिकोड़ कर कोटर--खोतरे–में घुसकर विश्राम करते हैं। उसी
प्रकार जीवात्मा जाग्रत स्वप्न के भोगों से थका-सा होकर सुषुप्ति
की ओर दौड़ता है। जहाँ प्रगाढ़ निद्रा में सो जाने पर-जाग्रत
स्वप्न को भाँति–किसी भी भोग की इच्छा नहीं करता और न
किसी प्रकार के स्वप्न को ही देखता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा कहाँ
रहता है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! हृदय के भीतर अत्यन्त ही

सूक्ष्मतम हिता नाम की नाडियाँ होती हैं। वे पुरुष का हित करती हैं, इसी से वे हिता कहलाती है। सुपुप्ति अवस्था मे जीवात्मा उन्हीं में रहता है।"

शौनकजी ने पूछा—"वे हिता नाड़ियाँ कैसी होती हैं, किस रग रूप की होती हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! ये सब अत्यत सूक्ष्मतम होती हैं। उनकी समानता किससे की जाय ? यो समझिये कि एक बाल को सहस्र भागो में विभक्त कर दिया जाय बाच से फाड फाड़ कर उसका सहस्राश जितना सूक्ष्म हो उतनी पतली वे नाडियाँ होती हैं। वे दृष्टि द्वारा देखी नहीं जा सकतीं। इतनी सूक्ष्मतर होने पर भी वे भीतर से पोली होती हैं। उनमे सफेद, नीला, पीला, हरा और लाल रग का रस भरा रहता है। वे नाडियाँ तो दिखाया नहीं देतीं, उनम भरा विभिन्न रङ्गों का रस एक सूक्ष्मतर रेखा की भाँति दृष्टि गोचर होता है। सुपुप्ति में पुरुष इन्हीं सूक्ष्म नाडियो मे चला जाता है।

स्वप्नावस्था में तो पुरुप नाना दृश्यो को देखता है। कभी देखता है कोई उसे मार रहा है कभी कोई उसे अपने वश में कर रहे हैं। कभी देखता है उसे मदमत्त हाथी खदेड रहे हैं। कभी हाथी या अन्य किसी के खदेड़ने पर गड्ढे मे गिर जाता है। इस प्रकार के भाँति भाँति के कौतुक स्वप्न मे दृष्टि गोचर होते हैं। जाग्रत अवस्था मे जो-जो भी देखता है, अनुभव करता है, चिन्तन करता है, उन सब इहलोक तथा परलोक सम्बन्धी दृश्यों को स्वप्नावस्था में अविद्या के कारण देखता है और अपने को उन दृश्यो में लिप्त सा मानता है। किन्तु जब सुपुप्ति अवस्था में बहत्तर सहस्र हिता नामक नाड़ियो के द्वारा इधर-उधर जाकर अन्त मे पुरीतत् नामक मास पिंड मे ...।

सो जाता है, तब वह वहाँ दिव्य देवता के समान, चक्रवर्ती राजा के समान अथवा सर्वज्ञ के समान निश्चिन्त होकर अपने को अनुभव करता है, वही उसका परम धाम है। अर्थात् अज्ञान पूर्वक पुरीतत् मे सयन करना सुषुप्ति अवस्था है और ज्ञानपूर्वक चित्त वृत्तियों के निरोध पूर्वक जो आत्मज्योति मे लय है, वही मोक्ष स्वरूप है। जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति मे कामनायें तो रहती हैं। सुषुप्ति मे वे प्रसुप्त हो जाती हैं। जागने पर पुनः कामनायें जाग्रत हो जाती हैं। किन्तु मोक्ष स्वरूप में काम रहित, पाप रहित तथा अभय रूप हो जाता है। इस विषय में दृष्टान्त देते हैं, जैसे अपने प्रियतम मे अत्यत अनुरागवती जो स्वय इच्छुका है उस अपनी परमप्रिया भार्या को अत्यन्त अनुराग मे आसक्त पुरुष आलिङ्गन करे, तो उस आलिङ्गनावस्था में पुरुष को न तो कुछ बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का ही। उस समय वह तन्मय–तदाकार–बन जाता है। इसी प्रकार जब यह पुरुष प्राज्ञात्मा से आलिङ्गित होता है–ब्रह्म का सस्पर्श प्राप्त कर लेता है–तब उसे बाहरी तथा भीतरी किसी भी विषय का भान नहीं होता। वह आनन्द मे निमग्न हो जाता है। सुख सरिता में डूब जाता है। यही इस पुरुष का आप्तकाम, अकाम तथा शोक-शून्य रूप है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह सुषुप्ति अवस्था क व्याज से प्रसङ्गानुसार मोक्ष का स्वरूप बताया। अब आगे सुषुप्ति में प्राप्त पुरुष जैसे निस्सङ्ग और निःशोक हो जाता है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

—०—

छप्पय

बाल सहसवों भाग हिता नाड़ी सूछम अति।
शुक्ल, नील अरु पीत हरित लोहित रँग पूरित ॥
स्वपन सरिस नहिँ दृश्य सुषुप्तिहिँ तहँ सुख सोवत।
मोक्ष सरिस सुख होहि काम अघ रहित अभयपद ॥
भार्यालिङ्गन सरिस प्रिय, बाह्याभ्यन्तर भान नहिँ।
प्राज्ञात्मालिङ्गित पुरुष, शोक शून्य निर्भय कहहिँ ॥

याज्ञवल्क्य द्वारा जनक को आत्म-ज्योति का उपदेश (४)

(२४८)

यद् वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्॥*

(वृ० उ० ४ म० ३ व्र० २३, श्लोक)

छप्पय

परुप सुषुप्तिहिँ माहिँ मातु पितु लोक वेद नहिँ।
चोर चुगुल चांडाल श्रवण पुल्कस तापस नहिँ॥
सबई उलटे होहिँ पुण्य-अघ शोक नसावै।
दृश्य न देखै देखि दृष्टि द्रष्टा न भुलावै॥
वह अविनाशी नित रहै, तातैं दूसर कछु नहीं।
फिर काकूँ देखै तहाँ, वही वही है नभ महीं॥

---

* वह आत्मा जो उस सुषुप्ति अवस्था में वाह्य तथा अभ्यन्तर को नही देखता है, फिर वह देखता हुआ ही नही देखता है, क्योंकि द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नही होता है। इसलिये कि वह अविनाशी है। उस सुषुप्ति अवस्था मे उससे भिन्न दूसरा कोई पदार्थ ही नही जिसको वह सोया हुआ पुरुष देखे।

आप ध्यान पूर्वक विचार करें। पुरुष विषयों का उपभोग कैसे करता है। वही एक आत्मा त्रिधा होकर अपने से अपने आपका ही रसास्वादन करता है। जैसे कुत्ता सूखी हड्डी को चबाता है। तो हड्डी कठोर होती है। सूखी होने से उसमें वैसा मास नहीं रहता। कुत्ते का तालु कोमल होता है। उससे उसका तालु छिल जाता है। उसमें से रक्त निकलने लगता है। उस रक्त का कुत्ता रस लेता है। अज्ञान वश उसे भान यह होता है, कि जिस रक्त का मैं रसास्वादन ले रहा हूँ यह हड्डी में से निकल रहा है। किन्तु वास्तविक बात यह नहीं है। वह रक्त भी उसी का है, उसमें जो स्वाद है वह भी उसी के भीतर का है और अनुभव करने वाला भी वही है। इसी प्रकार जैसे हम दृश्य को आँखों से देखते हैं। रसयुक्त पदार्थों का रसना के द्वारा आश्वादन करते हैं। तो कैसे करते हैं ? वाह्यद्रव्य हैं ये सब भूतों से निर्मित आधिभौतिक हैं। उन आधिभौतिक पदार्थों में ही आँख के गोलक भी आ गये। इन आँखों के गोलकों में जो सूर्य देवता बैठकर देखने की शक्ति प्रदान करते हैं यह आधिदैविक भाव है। सूर्य मे भी जो सूर्यत्व-सूर्यशक्ति-प्रदान करने वाले परब्रह्म परमात्मा हैं वे अध्यात्म हैं। अर्थात् दृश्य वही द्रष्टा वही और देखने की साधन भूताशक्ति भी वही। जिस आत्मा में देखने, सूँघने, सुनने, रस लेने तथा स्पर्शज्ञान की शक्ति है। वह जाग्रत अवस्था में, स्वप्नावस्था मे तथा सुषुप्ति अवस्था में एक ही है। उसकी शक्ति कभी अविलुप्त नहीं होती। जाग्रत अवस्था मे जिन पदार्थों को देखता, सूँघता तथा रसादि लेता है, उन्हीं पदार्थों का अनुभव स्वप्न मे भी करता है और सुषुप्ति अवस्था मे भी करता है। आप कहोगे, कि सुषुप्ति अवस्था मे तो वह कुछ भी अनुभव नहीं करता ? ऐसी बात नहीं है। क्योंकि वाह्य पदार्थ कहीं

नहीं गये। उस आत्मा में जो सूँघने आदि की शक्ति है वह सुषुप्ति अवस्था में उसमे विद्यमान है। सुषुप्ति अवस्था में ए हा विशेषता है, वहाँ सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा वाणी का प्रकाश नहीं। केवल आत्मा का ही प्रकाश रहता है। उस समय प्रज्ञात्म के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु–अन्य प्रकाश–वहाँ है ही नहीं उसका वह उपभोग करे। वहाँ वह साक्षी रूप से आनन्द का अनुभव करता है। यदि कुछ भी न देखता होता, तो सुषुप्ति से उठकर यह क्यों कहता—आज तो बड़ी ही सुन्दर मीठी-मीठी नींद आयी। आज तो अत्यन्त ही सुखपूर्वक सोये। नींद का मिठास, सुषुप्ति के आनन्द का अनुभव करने वाला कोई उस सुषुप्ति अवस्था में भी जागता हुआ उसके रस का अनुभव करता रहता है उसके आनन्द का आस्वादन करता रहता है। वह आनन्द स्वरूप परमात्मा और आनन्द का अनुभव करने वाला पुरुष–जीवात्मा–परस्पर में आलिंगित होकर जब एक हो जाते हैं, तब भीतर बाहर कुछ भी दृश्य नहीं रह जाता है। आनन्द, परमानन्द, नित्यानन्द, अखडानन्द, शाश्वतानन्द, वही वही रह जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जैसी आसक्ति जाग्रत और स्वप्नावस्था में वस्तुओं में तथा सम्बन्धियों में रहती है, वैसी आसक्ति सुषुप्ति अवस्था में नहीं रहती। सुषुप्ति अवस्था में तो पुरुष स्वयं ज्योति होने के कारण अपने को आसक्ति रहित निस्सङ्ग अनुभव करता है। जाग्रत और स्वप्नावस्था में जैसे प्रतिकूल परिस्थियों के कारण शोकमग्न होता है वैसे सुषुप्ति अवस्था में शोकमग्न नहीं होता। वहाँ तो वह अपने को नि.शोक अनुभव करता है। सुषुप्ति अवस्था में पिता पिता नहीं रह जाता वह अपिता बन जाता है। माता-माता नहीं रह जाती वह

अमाता हो जाती है। वहाँ ये लोक,लोक न रहकर अलोक हो जाते हैं। देवता,देवता नहीं रहते अदेव हो जाते हैं। वेद,वेद नहीं रहते अवेद बन जाते हैं। वहाँ चोर, चोर नहीं रहता अचोर हो जाता है। सबसे बड़ा पाप भ्रूणहत्या का माना गया है। सात महीने के पहिले गर्भस्थ शिशु की हत्या भ्रूण हत्या है। सात के पश्चात् गर्भ को नष्ट करना बालहत्या है। भ्रूणहत्या, बालहत्या सबसे बड़े पाप हैं। सुषुप्ति अवस्था में भ्रूणहत्या करने वाला अभ्रूणहा हो जाता है। वहाँ चाण्डाल, पुल्कस, सन्यासी, वानप्रस्थ, ये सब समान हो जाते हैं। वहाँ भेदभाव का लेश भी नहीं रहता। उस समय पुण्य पाप कुछ नहीं रहता। पुरुष दोनों से असम्बद्ध हो जाता है, दुखी हो, रुग्ण हो, चिन्तित हो, शोकाकुल हो, सभी अपने दुःख, व्याधि, चिन्ता तथा शोक को भूल जाते हैं। सभी प्रकार के दुःख शोकादि से पार हो जाते हैं। हृदय के सम्पूर्ण दुःख मिट जाते हैं। सुषुप्ति अवस्था में आत्मा स्वयं ज्योति होने के कारण उसके देखने की शक्ति नष्ट नहीं होती। उसमें देखने की सामर्थ्य रहती है। सामर्थ्य रहते हुए भी वह देखता नहीं है। सुखानुभूति को तो वह देखता ही है। क्योंकि वह अविनाशी द्रष्टा है। जब तक अग्नि पूर्णरूप से बुझ नहीं जाती–उसका अन्त नहीं हो जाता–तब तक उसका उष्णत्व धर्म बना ही रहता है। जिसका जो धर्म है वह उसकी सत्ता तक विद्यमान रहता ही है। आत्मा का कभी नाश होता नहीं उसकी सत्ता कभी मिटती नहीं। आत्मा द्रष्टा है उसकी दृष्टि भी अविनाशी है। अतः जीवात्मा के साथ ही उसकी दृष्टि भी ज्यों की-त्यों बनी ही रहती है। जब स्वयं द्रष्टा अविनाशी नित्य है और उसकी दृष्टि भी नित्य है, तो सुषुप्ति अवस्था में देखता क्यों नहीं है ? क्योंकि वहाँ वि-

स पृथक् हैं ही नहीं। जब द्रष्टा पृथक् हो तभी तो देखा ज सकता। वहाँ तो देखने वाला प्रज्ञात्मा से आलिङ्गित है। वह ता उससे भिन्न दूसरे पदार्थ हैं ही नहीं, जिसे देखे। वहाँ तो वह आनन्द निमग्न रहता है। लाली देखने जाता है स्वयं लाल बन जाता है। आनन्द का अनुभव करने जाता है स्वयं आनन्द से आलिङ्गित हो जाता है।

उसमें सूँघने, रसास्वादन करने, बोलने, सुनने, स्पर्श करने, जानने की शक्ति है, किन्तु इन सबकी शक्ति रहने पर भी उनका उपयोग नहीं करता। दृष्टान्त के लिये सूँघने को ही ले लीजिये सुषुप्ति अवस्था में वह सूँघता नहीं। इसका अर्थ यह नहीं कि उसमें सूँघने की शक्ति ही नहीं रहती। वह सूँघता हुआ भी नहीं सूँघता। उसकी गन्ध ग्रहणशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता। यद्यपि वह उस अवस्था मे गन्धग्रहण नहीं करता, किन्तु गन्धग्रहण करने की उसकी शक्ति कहीं चली थोड़े ही जाती है। क्यों नहीं चली जाती? क्योंकि घ्राणेन्द्रिय का धर्म गन्ध ग्रहण करना है। जब तक घ्राण इन्द्रिय है तब तक उसका धर्म उसमें विद्यमान रहेगा ही। क्योंकि जिसकी वह घ्राणेन्द्रिय है वह पुरुष अविनाशी है। तब फिर घ्राण इन्द्रिय के रहते, गन्धग्रहण शक्ति के विद्यमान होने पर भी वह सूँघता क्यों नहीं?-गन्ध ग्रहण क्यों नहीं करता?–इसलिये नहीं करता, कि उस सुषुप्ति अवस्था में उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु उसकी दृष्टि मे रहती ही नहीं। प्राज्ञात्मा से आलिङ्गित होने पर वह बाहर भीतर का कुछ भी विषय नहीं देखता। फिर बताइये वह किसे सूँघे? इसी प्रकार सभी विषयों के सम्बन्ध मे समझ लेना चाहिये।

अच्छा, अब यह प्रश्न होता है, कि जागरित तथा स्वप्नावस्था में इसे विषयों का विशेष ज्ञान होता है, क्यों होता?

इसलिये,कि यह अविनाशी है,विज्ञान ही इसका स्वभाव है। वह स्वभाव सुषुप्ति में कहीं चला नहीं जाता। जागरित और स्वप्न के सदृश व सुषुप्ति अवस्था में भी विद्यमान रहता ही है, तब फिर सुषुप्ति अवस्था में विषयों का विशेष ज्ञान इसे क्यों नहीं होता?

इसका उत्तर यह है कि जागरित अवस्था में अथवा स्वप्नावस्था में आत्मा से भिन्न शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि ये विषय आत्मा से भिन्न से प्रतीत होते हैं। उन दोनों अवस्थाओं म द्वैत का भान होने से अन्य, अन्य को सूँघता, रस लेता, श्रवण करता, स्पर्श करता तथा मनन करता सा प्रतीत होता है। क्योंकि वहाँ दृश्य पृथक् है द्रष्टा पृथक् है अतः वहाँ विशेष ज्ञान होना सम्भव है। किन्तु सुषुप्ति अवस्था में तो द्रष्टा दृश्य एक हो जाते हैं। वहाँ तो पुरुष प्राज्ञात्मा के परिष्वङ्ग से, परमात्मा परब्रह्म के सस्पर्श से भेद रहित बन जाता है। जैसे जल में जल को फेंक दो, तो दोनों जल मिलकर एक हो जाते हैं।

याज्ञवल्क्यजी महाराज जनक को समझाते हुए कह रहे हैं—"हे सम्राट्! यह जो सुषुप्ति अवस्था का आधार है यही ब्रह्मलोक है। यही परब्रह्म है, यही परमात्मा है यही निरतिशय आनन्द है। यही परमगति है। यही इस पुरुष की परम सम्पत्ति है, यही इसका परम लोक तथा परम आनन्द है। इसी आनन्द की न्यूनाधिक मात्रा के आश्रित होकर ससार के समस्त प्राणी जीवन धारण करते हैं। उस सुषुप्ति आधार का जो परम आनन्द है, उस आनन्दामृत सागर का जो अपार अमृत कोश है उसमें से किसी को एक विन्दु प्राप्त है, किसी को दो, किसी को तीन, किसी को असख्य, कोई उस अमृतानन्द में अवगाहन करके निमग्न हो जाता है। उसी अमृत उदधि में से जिसे जितने भी कण प्राप्त हो जायँ पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गादि लोकों

उतना ही आनन्दयुक्त माना जाता है। भूमा में-विपुल गुणोत्कर्ष में-ही अत्यन्त अनुकूल-परिपूर्ण-सुख है।" (यो वै भूमा तत्सुखम्)

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आनन्द तो आनन्द ही है। इसमें छोटा बड़ा होता है क्या?"

सूतजी ने कहा—"क्यों नहीं होता भगवन्! लौटा गुड का जो मेल है–उसका स्वाद और है, गुड का स्वाद और है, राब का स्वाद और है, खाड का स्वाद और है, बूरे का स्वाद और है तथा मिश्री का स्वाद और है। यद्यपि मिठास वाली वस्तु इन सब में एक ही है, किन्तु जो जितना ही निर्मल होता जायगा उसका स्वाद उतना ही बढता जायगा। उसी प्रकार पृथ्वी पर, अंतरिक्ष में, स्वर्गादि पुण्यलोकों में तथा अन्याय नित्य दिव्यलोकों में आनन्द तो एक ही है, किन्तु उस आनन्द में जितना ही इन्द्रिय विषयजन्य जल भरा रहेगा, आनन्द की मात्रा उतनी ही न्यून होती जायगी और इन्द्रिय विषय जन्य मल जितना ही छँटता जायगा आनन्द की मात्रा उतनी ही वढती जायगी। अब आगे जैसे क्रमशः आनन्द की मात्रा का वर्णन किया जायगा, उसे मैं आगे कहूँगा। आशा है आप सब इस आनन्दमय प्रसङ्ग को आनन्द के साथ श्रवण करेंगे।"

छप्पय

गन्धग्रहन, रसग्रहन, श्रवन, छूवन जानन में।
विद्यमान तिहि शक्ति करै उपयोग न तिनमें॥
करत अकरता रहै करन की शक्ति सतत है।
प्राज्ञात्मा के साथ प्रेमतैं आलिङ्गित है॥
स्वप्न जागरित भिन्न-सो–भोक्ता भोग्य पृथक पृथक।
जल में जल ज्यों आतमा, नहीं सुपुप्ती में विलग॥

—:ः:—

आनन्द-मीमांसा

[२४६]

स यो मनुष्याणाᳬ राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैःस म्पन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दः ॥*

(वृ० उ० ४ प्र० ३ ब्रा० ३३...म०)

छप्पय

जो सुपुत्ति आधार वही परमागति सम्पति।
परमानन्द महान सकल आनंद मात्राश्रित॥
धन, धी, गुन सम्पन्न सकल सुविधा युत स्वामी।
भू सामग्री भोग सबहिँ नर जिहि अनुगामी॥
नरनि परम आनन्द सो, तासु शत गुनो जो अनँद।
पितरलोक कूँ जीतिकें, पितर गननि आनन्द तद॥

संसार से किसी को आनन्द नहीं। भ्रम वश लोग दूसरों को सुखी समझते हैं। जिसके पास एक समय का भोजन नहीं घर-घर से टुकड़ा माँगता फिरता है। वह उसे सुखी समझता है,

---

* जो पुरुष सभी मनुष्यों में, सभी प्रकार के अङ्गों से समृद्ध है। सबका अधिपति सर्वस्वतन्त्र राजा है और मनुष्य सम्बन्धी समस्त विषय भोगों से अत्यन्त सम्पन्न है। ऐसे व्यक्ति का आनन्द मनुष्यलोक के मध्य में सबसे श्रेष्ठ परम आनन्द माना जाता है।

जिसके यहाँ दोनों समय का भोजन हो। दस पाँच वीघा भूमि वाला एक ग्राम के अधिपति को सुखी समझता है। एक ग्राम का अधिपति सौ ग्राम के राजा को सुखी समझता है। सौ ग्राम का राजा उस अधीश्वर को सुखी मानता है जिसके अधीन बहुत से राजा हों। अधीश्वर उस मण्डलेश्वर महाराज को सुखी मानता है जिसकी आज्ञा अनेकों अधीश्वर मानते हों। मण्डलेश्वर राजा उस सम्राट् को सुखी मानता है जो समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का एकछत्र शासक हो, जिसकी आज्ञा को सभी राजे-महाराजे मानते हों। ऐसा सम्राट् भी यदि रोग से ग्रस्त है, गुणों मे न्यून है, कोश की कमी है अथवा सन्तान से रहित है या मूर्ख सन्तति है, तो इतना धन वैभव होने पर भी वह अपने को सुखी नहीं मानता। मान लो कोई सम्राट् है, वह सातों समुद्र वाली वसुन्धरा का स्वामी है। उसकी आज्ञा अव्याहत है। अर्थात् पृथ्वी पर ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो उसकी आज्ञा को न मानता हो। उसके पास पर्याप्त धन, रत्नादि के कोश हैं। यथेष्ट चतुरंगिनी सेनायें हैं। शरीर से भी पूर्ण स्वस्थ है। विद्या, तप, तितिक्षा, शम, दम, विनय विवेकादि समस्त सद्गुण उसमें स्वभाव से ही हैं। उसकी धर्मपत्नियाँ सुन्दरी, सुशीला, सद्कुलोद्भवा, गुणवती सौभाग्यवती तथा पतिपरायणा हैं। अङ्गों सहित समस्त वेदों का उसने अध्ययन किया है। गुणवान्, भाग्यवान्, सौम्य सुशील अनेकों उसकी सन्तति हैं। सभी लोग उसका समादर करते हैं। ऐसा हृष्ट, पुष्ट, वलिष्ट, धनधान्य से युक्त, नवयौवनादि गुणों से समृद्ध, स्त्री, पुत्र पौत्रादि परिपूर्ण सम्राट् मनुष्यलोक मे सभी मनुष्यों से सुखी माना जाता है। मनुष्य लोक के सुख की ऐसा सम्राट् सीमा है। अर्थात् उससे बढ़कर समृद्धशाली भाग्यशाली सुखी मनुष्य और कोई नहीं है। मर्त्यलोक के मनुष्यों के आनन्द की वह चरम

सीमा है। किन्तु उसके आनन्द से भी बढकर दूसरे लोक के उपदेव तथा देवतागण आनन्दशाली हैं। उनके आनन्द की मात्रा उत्तरोत्तर कैसे बढती जाती है। उसी का वर्णन आगे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब क्रमशः पृथ्वी लोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त आनन्द की मीमासा करते हैं। मर्त्यलोक में जो मनुष्य सभी अङ्गों से समृद्ध है। पृथ्वी के अन्य सभी मनुष्यों का वह अधिपति है। मनुष्य लोक की शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी जितनी भोग सामग्रियाँ हैं, उन सबसे सम्पन्न है, ऐसा उत्तम लक्षण युक्त मनुष्य पृथ्वी के समस्त मनुष्यों में अतिशय आनन्द वाला है। ऐसे पृथ्वी के परम आनन्द वाले सौ पुरुषों के आनन्द के समान श्राद्धादि कर्मों द्वारा जिस व्यक्ति ने पितृलोक को जीतकर पितरत्व प्राप्त कर लिया है। ऐसे एक पितर के आनन्द के बराबर है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मनुष्यलोक के सर्वसद्गुण सम्पन्न सम्राट् से सौ गुणा आनन्द पितरों को क्यों है ? वे पितर कहाँ रहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! भूलोक, अन्तरिक्ष (भुवः) लोक और स्वर्गलोक ये ही तीन लोक हैं। अन्तरिक्ष का जो तीसरा भाग है, जहाँ सूर्यादि ग्रहों का प्रखर प्रकाश होता है इसी कारण उसे प्रद्यौ कहते हैं। वहीं पर पितृलोक है। उसी लोक में पितृगण निवास करते हैं मनुष्यों को दीखते नहीं। मनुष्यों से अन्तर्हित रहने से वे पितर कहलाते (तिर इव हि पितरो मनुष्येभ्यः) ये पितर उपदेव हैं। मानुष्य सुख से सौ गुणा सुख इन्हें पितृलोक में प्राप्त होता है। अब पितृलोक को जीतने वाले पितरों से सौ गुणा आनन्द एक गन्धर्व लोक का है।"

शौनकजी ने पूछा—"गन्धर्वों का आनन्द पितरों से सौ गुणा अधिक क्यों हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! एक तो गन्धर्व सबसे अधिक रूप में सुन्दर होते हैं, फिर ये गाने बजाने का कार्य करते हैं। देव समाजों में गाते हैं। अप्सरायें नृत्य करती हैं, तीसरे ये स्त्रियों के अत्यन्त प्रेमी होते हैं, इन्हीं सब कारणों से सौ पितरों के आनन्द के समान एक गन्धर्व का आनन्द कहा गया है और सौ गन्धर्व आनन्द के सदृश एक कर्मदेव का आनन्द है।"

"शौनकजी ने पूछा—"कर्मदेव कौन होते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् देवता दो प्रकार के होते हैं। एक तो देवयोनि वाले नित्य देवता। दूसरे जो मनुष्य पृथ्वी पर श्रौत अग्निहोत्रादि कर्मों को करके उनके पुण्यों द्वारा देवत्व को प्राप्त करके देवलोक में गये हैं वे रहते तो अग्नि, वरुण, कुबेरादि देवताओं के ही साथ हैं, किन्तु कल्प के आदि में जिनकी उत्पत्ति हुई है उन आजान-नित्य देवों-से येकर्मदेव भिन्न माने जाते हैं। ऐसे सौ कर्मदेवों के आनन्द के सदृश एक जन्म सिद्ध नित्य आजान देवों का एक आनन्द है।

शौनकजी ने पूछा—"नित्य देवों में विशेषता क्या है ?"

सूतजी ने कहा—भगवन् ! देवता यज्ञभुक् होते हैं। अग्नि ही इन देवताओं का मुख है। अग्नि द्वारा ही ये यज्ञ रूप अन्न को खाते हैं। अमृत ही इनका तेज है और सूर्य इनकी ज्योति है। जो आजान नित्य देवों का एक आनन्द है उसी के सदृश आनन्द निष्पाप निष्काम श्रोत्रिय का आनन्द है। उस निष्पाप निष्काम श्रोत्रिय का आनन्द स्वाभाविक है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! श्रोत्रीय किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! जिसका जन्म विशुद्ध धर्मपरायण

ब्राह्मण से पवित्राण सद्‌कुलोत्पन्न ब्राह्मण वर्ण की पत्नी द्वारा हुआ हो। जिसके विधिपूर्वक गर्भाधान उपनयनादि सभी संस्कार हुए हों और जिसने अङ्गों सहित वेदो का सभी विद्याओं का अध्ययन किया हो उसी को श्रोत्रिय कहते हैं। ऐसा श्रोत्रिय सर्वथा निष्पाप हो और निष्काम हो तो उसका स्वाभाविक आनन्द देवताओं के भी आनन्द से बढ़कर होता है। सौ नित्य देव आनन्द के सदृश एक प्रजापति-ब्रह्मा-का आनन्द होता है। और प्रजापति के आनन्द के समान ही निष्पाप निष्काम श्रोत्रिय का भी स्वाभाविक आनन्द है। जो सौ प्रजापति के आनन्द हैं वह ब्रह्मलोक का-परब्रह्म परमात्मा का-एक आनन्द है। वही आनन्द निष्पाप निष्काम-प्राकृत विषयभोग की कामना से रहित-श्रोत्रिय-मुक्त पुरुष को स्वाभाविक ही प्राप्त है।"

महर्षि याज्ञवल्क्यजी महाराज जनक से कह रहे हैं—"राजन्! यह जो ब्रह्मलोक का-परब्रह्म परमात्मा का-आनन्द है यही वास्तव में ब्रह्मलोक है। यही निरतिशय आनन्द है यही आनन्द की पराकाष्ठा है। यह जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष को स्वाभाविक प्राप्त होता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर महाराज जनक परम प्रमुदित हुए, उन्होंने कहा—"हे षडैश्वर्य सम्पन्न भगवन! आपने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की मैं श्रीमान् को इसके उपलक्ष्य मे एक सहस्र (गौएँ अथवा सुवर्ण मुद्रायें) अर्पण कर रहा हूँ। कृपा करके अब आगे भी आप मुझे मोक्ष सम्बन्धी उपदेश करें।" राजा के पुनः ऐसा कहने पर महर्षि याज्ञवल्क्यजी भयभीत हो गये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मोक्ष सम्बन्धी प्रश्न तो बहुत ही उत्तम है। इससे भयभीत होने का कारण क्या है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! याज्ञवल्क्यजी में उत्तर देने की सामर्थ्य न रही हो, अथवा वे इस विषय में अधिक न जानते हों, इसलिये उत्तर देने में भयभीत नहीं हुए। उन्होंने सोचा यह, कि यह राजा बड़ा मेधावी है, इसकी बुद्धि अत्यन्त ही तीक्ष्ण है, यह एक-एक प्रश्न करते-करते मोक्ष सम्बन्धी सभी विज्ञान को आज ही पूछ लेगा। प्रत्येक उत्तर पर तो यह मुझे दक्षिणा देता जाता है और फिर आगे प्रश्न भी करता जाता है। इस प्रकार तो यह अपने समस्त प्रश्नों के निर्णय पर्यन्त मुझे यहाँ रोके रखेगा। इसने तो मुझे प्रश्न रूपी रज्जु से बाँध लेने का संकल्प-सा कर लिया हो ऐसा प्रतीत होता है। अस्तु अब तो मैं इसे वर दे ही चुका हूँ, कि यह जो प्रश्न करेगा, उसका मैं उत्तर दूँगा ही। यही सोचकर वे राजा के पुनः प्रश्नों का उत्तर देने के लिये उद्यत हुए। अब आगे मृत्यु के सम्बन्ध में जैसे राजा को याज्ञवल्क्यजी बतावेंगे उस प्रसङ्ग का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

सौ पितरनि आनन्द एक गन्धर्व अनन्दा।
सौ गन्धर्व अनन्द एक सम करम देवता॥
करमदेव सौ सरिस एक नित देव अनँद है।
सौ देवनि आनन्द प्रजापति एक सरिस है॥
सौ आनन्द प्रजापतिहिँ, ब्रह्मलोक आनन्द सम।
वही परम आनन्द है, श्रोत्रिय कूँ सो नित्य सम॥

मृत्यु-मीमांसा

[२५०]

तद् यथानः सुसमाहितमुत्सर्जद् यायादेवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन् याति यत्रैत-दूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥*

(बृ० उ० ४ अ० ३ ब्रा० ३५ म०)

छप्पय

स्वप्न लोक सुख भोगि जागरित में पुनि आवै ।
मरन समय रव करत दबे छकड़ा सम जावै ॥
जरा रोग कृश भये पके फल सम गिरि परिकें ।
अन्य योनि महँ जाइ देह अङ्गनि तें छुटिकें ॥
नृपति आगमन प्रतीच्छा, करत उग्र सूत हु पुरुष ।
त्यों ज्ञानी की प्रतीच्छा, करत जीव सबई हरषि ॥

जीवन और मरण ये दोनों क्रियायें ध्रुव हैं। एक दूसरी की पूरक हैं। जो जनमा है, वह अवश्य मरेगा और जो मरा है वह अवश्य जन्म लेगा। ऐसा कभी सभव ही नहीं कि जन्म लेने

---

* जैसे अधिक बोझ से लदा हुआ छकडा अपने पूर्व देश को छोडकर चलता है उसी प्रकार इस शकट स्थानीय शरीर मे रहने वाला आत्मा प्राज्ञात्मा से अधिष्ठित होकर, पूर्व शरीर को छोड़कर शब्द करता हुआ जाता है, वही उर्ध्वोच्छ्वास छोडने वाला होता है।

वाला मरे नहीं और मरने वाला जन्म न ले। जन्म के साथ ही मरण निश्चित हो जाता है। जब मरना ध्रुव है, निश्चित है, तो लोग वाग मरने से डरते क्यों हैं ? और मृत्यु को भुला देना क्यों चाहते हैं ? इसी का नाम मोह है। मोह क्यों होता है ? यह जो जन्म-मरण का ज्ञान है, उस ज्ञान को अज्ञान ढक लेता है। अज्ञान क्या ज्ञान से अधिक बलवान् है, जो ज्ञान को ढक लेता है ? हाँ, शरीर संयोग से अज्ञान बलवान बन जाता है। विषय, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण और पूर्ववासना युक्त कर्मों के कारण ज्ञान कुछ शिथिल पड़ जाता है। अहंकार पुरुष को विमूढ़-सा-अज्ञानी-सा बना देता है। ज्ञानावस्था में तो जीव को भान रहता है, सब कुछ करने कराने वाले परमात्मा ही हैं। वे ही हृदय प्रदेश में स्थित होकर प्राणियों को नाच नचाते रहते हैं। जैसे कठपुतलियों को नचाने वाला अपने हाथ में सूत्र को लेकर जिस कठपुतली को जैसे चाहता है वैसे नचा लेता है। नाचने में कठपुतलियों का पुरुषार्थ नहीं। जिसके हाथ मे कठपुतलियों का सूत्र है, उस सूत्रात्मा के संकेत पर ही कठपुतलियाँ नाचती हैं। इसी का नाम ज्ञान है, जब तक जीव को यह ज्ञान बना रहता है, तब तक वह बन्धन मे नहीं बँधता, जन्म मरण के चक्कर मे नही फँसता। सब कुछ करता हुआ भी वह संसार बन्धन से परे ही बना रहता है। क्योंकि वह कर्ता कारयिता सूत्रात्मा पुरुष को ही मानता रहता है। जब इस ज्ञान को अज्ञान दबा लेता है। अहंकार का पलड़ा भारी हो जाता है। अहंकार के कारण जब वह विमूढ़ात्मा बन जाता है, तब सूत्रात्मा को कर्ता न मानकर अपने को ही कर्ता मान बैठता है। तो जो कर्ता होगा, वह कर्मों का फल भी भोगेगा। इसीलिये कर्ता मानने से कर्म बन्धनों मे बँध जाता है। अज्ञान का पहिला लक्षण यही है मृत्यु को भूल जाना और

संसारी कर्मों में आसक्त हो जाना। अज्ञान के वशीभूत होकर मुझे मरना है, इसे भूलकर आज मुझे यह करना है, कल यह करना है। करना है, करना है, इसी को सदा रटता रहता है। इसी से मकड़ी की भाँति जाला बनाकर स्वयं उसमें फँस जाता है। जिसे इस बन्धन से छूटना हो, उसे नित्य इस बात का स्मरण रखना चाहिये हमें एक दिन अवश्य मरना है, हम कर्ता नहीं कर्ता तो केवल कर्तार श्रीकृष्ण ही हैं। इसीलिये किसी कवि ने कहा है—

> द्वै बातनि कूँ भूलि मति, जो चाहे कल्यान।
> नारायन इक मौतिकूँ, दूजे श्रीभगवान॥

मनुष्य को सदा मृत्यु याद रहे तो उससे पाप बन ही नहीं सकते। क्योंकि पाप पुरुप जीने के ही लिये करता है। प्राणों को सदा बनाये रहने को ही पाप करता है। इसीलिये तो असुर लोग घोर तपस्या करके भी यही वर माँगा करते हैं 'मैं कभी मरूँ नहीं'। जो प्राणों को ही सर्वस्व समझकर उनमें रमण करना चाहते हैं वे ही असुर हैं। इसीलिये मोक्षपथ के पथिक को मृत्यु के सम्बन्ध में सब कुछ जान लेना चाहिये। यही मोक्ष मार्ग का पाथेय है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज जनक ने मोक्ष के लिये और उपदेश करने के निमित्त महर्षि याज्ञवल्क्यजी से प्रार्थना की तब राजा को उपदेश करते हुए वे कहने लगे— "राजन्! यह पुरुप जाग्रत अवस्था से स्वप्नावस्था मे जाता है, स्वप्नावस्था से सुपुप्ति मे जाता है, सुपुप्ति से पुनः स्वप्नावस्था में आकर पुण्य पापो के अनुसार रमण-विहार करता है। स्वप्न में दुःख तथा सुखों का अनुभव करता है। वहाँ दुख-सुखों का

अनुभव करके जिस मार्ग से स्वप्नावस्था में गया था, उसी मार्ग से पुनः जागरित–अवस्था मे लौटकर आ जाता है। इस प्रकार जाग्रत अवस्था मे भी वह नाना भोगों को भोगता रहता है। भोगों को भोगते-भोगते जब इसके मरने के दिन आ जाते हैं, तब यह शब्द करता हुआ, दीर्घश्वास छोड़ने लगता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मरते समय पुरुष ऊर्ध्वोच्छ्वास क्यों छोड़ता है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! उस समय वह कर्मों के बोझ से दब-सा जाता है। दबने से ही ऊर्ध्वच्छ्वास छोड़ने लगता है। जैसे कोई छकड़ा है। उसमें आवश्यकता से अधिक घर की खाद्य सामग्रियों को अथवा अन्य सामानों को भर दो तो जब वह पूर्व देश का परित्याग करके चलने लगता है, तो भारी बोझ के कारण चों चों शब्द करता हुआ चलता है। इसी प्रकार जीवात्मा का यह शरीर शकट–छकड़ा–के ही समान है। भगवान् इस शकट के सारथी हैं। उन प्राज्ञात्मा–परब्रह्म परमात्मा–से अधिष्ठित होकर –उनसे सम्बन्ध विशेष को पाकर–पूर्व शरीर को छोड़ता है, तो दूसरे शरीर में जाने के समय आर्त शब्द करता हुआ ही जाता है। ऊर्ध्वश्वास–मरते समय जो हुचकी आती है, वे शब्द ही मानो देह रूपी शकट का शब्द है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मरते समय मनुष्य लम्बी स्वाँस लेकर छटपटाता क्यों है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! नख से लेकर शिखा पर्यन्त सभी स्थानों मे प्राण व्याप्त रहता है। मरते समय वह मर्म स्थानों को छेदन करके बाहर निकलता है, उस समय असह्य वेदना होती है। उस दुःख से ही व्याकुल होकर छटपटाता है। वात, पित्त तथा कफ के कुपित हो जाने से कंठ में कफ भरकर रुक

जाता है। जिससे मरते समय पुरुष अचेत हो जाता है, उसे ज्ञान नहीं होता। स्वाँस ऊपर की ओर चलने लगती है। उस समय ज्ञान रहता नहीं। अतः मरने से पहिले ही शुभ कर्म करके मृत्यु को जीत लेना चाहिये। मृत्यु के समय तो किसी परमज्ञानी विरले को ही ज्ञान बना रहता है, उसे मृत्यु समय में कष्ट नहीं होता।"

शौनकजी ने पूछा—"ऊर्ध्व उच्छ्वास होता क्यों है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! कोई भवन है, बहुत दिन पहिले का बना है। अधिक समय हो जाने के कारण उसमें लगीं लकड़ियाँ सड़ जाती हैं, लोहा गल जाता है। ईंटे सारहीन निर्बल बन जाती हैं। गारा, चूना सत्वहीन होकर धँसक जाता है, भवन गिर जाता है धराशायी हो जाता है। अथवा नये बने भवन पर बिजली गिर पड़ती है, भूचाल आने से नींव हिल जाती है तो भी वह गिर जाता है। इसी प्रकार यह शरीर भी एक भवन ही है। हड्डियाँ लकड़ी के खम्भे हैं, स्नायु-नस-नाड़ियाँ बाँधने के तार हैं, मांस रक्त चूना गारा है, चमड़ा भवन के ऊपर की सफेदी लहेसन है। मुख शिर-पेट आदि कोठरियाँ हैं नौ छिद्र झरोखे हैं। ऐसा यह भवन वृद्धावस्था के कारण-अधिक समय तक चलने के कारण—गल जाता है। बूढ़े मनुष्यों की हड्डियाँ ऐसी गल जाती हैं, कि हाथ से भी बलपूर्वक मसल दो चुर्र मुर्र होकर टूट जाय। अथवा ज्वरादि रोगों से भी भीतर ही भीतर सूखकर कृश हो जाता है। अग्नि मंद हो जाने से रस का परिपाक उचित मात्रा में नहीं होता, तो हाथ, पाँव आदि अङ्ग शिथिल हो जाते हैं। वृद्धावस्था के कारण अथवा रोगों के कारण ही साँस फूलने लगती है-पुरुष ऊर्ध्व-उच्छ्वास लेने लगता है। तब प्राण निर्बल हो जाते हैं-शक्ति क्षीण होने लगती है। जैसे आम का,

गूलर, पीपर अथवा वट का वृक्ष है, उसमें लगे फल जब पक जाते हैं तो अपने आप डालों के बन्धन को छोड़कर चू पड़ते हैं, स्वतः ही नीचे गिर जाते हैं। पेड़ में रोग लग जाने पर भी उसके कच्चे फल भी गिर जाते हैं। ऐसे ही वृद्धावस्था के कारण अथवा रोगों के कारण प्राण और इन्द्रियों सहित पुरुष पककर गिर जाता है। जैसे प्राण इन्द्रियों सहित इस शरीर में आया था, वैसे ही इसमें से निकलकर अन्य देह का निश्चय करके उसमें चला जाता है। यह शरीर धराशायी भवन के सदृश मृतक होकर भूमि पर निर्जीव निष्प्राण बना पड़ा रहता है। यदि जीव अज्ञानी है, तब तो अन्य योनियों मे चला जाता है। यदि वह ब्रह्मविद् है। उसने ज्ञानार्जन करने के अनन्तर शरीर का परित्याग किया है, तो समस्त प्राणी उसके स्वागत की प्रतीक्षा करते हैं। सभी उसका नाना उपहारों से अभिनन्दन करते हैं। इस विषय में राजा का दृष्टान्त देते हैं।

जैसे कोई प्रतापशाली राजा है। वह अपने राज्य के निरीक्षणार्थ भिन्न-भिन्न ग्रामों में नगरों मे जाता है, तो उसके आगमन को सुनकर ग्राम मे रहने वाले चाहे उग्र जाति के हों, सूत मागध वन्दी हों, अथवा ग्राम के नेता हो, सभी राजा के स्वागत के लिये नाना उपहार लेकर खड़े रहते हैं। कोई फूल माला लिये रहता है। कोई दूध, दही, घृत, मधु तथा अन्नों का प्रबन्ध करते हैं। कोई अपने भवनों को लीप-पोत करके स्वच्छ बनाकर खाली कर देते हैं कोई डेरा, तम्बू लगा देते हैं। जिसकी जैसी सामर्थ्य होती है अपनी सामर्थ्य के अनुसार राजा का स्वागत करते हैं। बड़ी उत्सुकता से राजा के आने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। इसी प्रकार कर्म फलवेत्ता ब्रह्मज्ञानी जब शरीर परित्याग करके परम स्थान को जाता है तो सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त

संभ्रम के साथ–महान् उत्सुकता के साथ–कहते हैं—"देखो, यह ब्रह्मविद् पुरुष आ रहा है, यह ब्रह्मवेत्ता पधार रहा है।" इस प्रकार कहते हुए उसके आगमन की प्रतीक्षा करते रहते हैं। क्योंकि वह समदर्शी सभी प्राणियों की प्रिय आत्मा के रूप में हो जाता है। सभी उससे समान रूप से प्यार करने लगते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब प्राणी इस शरीर का परित्याग करके दूसरे शरीर मे जाता है, तो उस समय इसके साथ और कौन-कौन जाते हैं?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! शरीर मे यह जीवात्मा ही तो मुख्य है जब जीवात्मा इस शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर मे जाने को उद्यत हो जाता है–जाने लगता है–तब समस्त प्राण, समस्त इन्द्रियाँ तथा अधिष्ठातृदेव इसका अनुगमन करने लगते हैं। दृष्टान्त मे यों समझो जैसे कोई राजा किसी नगर मे आया। कुछ दिन वहाँ रहा। जब वह वहाँ से दूसरे नगर के लिये चलने लगता है तो उसके पीछे-पीछे उसके सेवक सचिव, ग्राम के नेता लोग, उग्रकर्मा, पाप कर्म में नियुक्त सूत एव अन्य प्रजा के लोग चलने लगते हैं, उसका अनुगमन करते हुए जाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! श्रुति में वार-वार उग्रकर्मा, पाप कर्म मे नियुक्त सूत तथा ग्रामण्य शब्द आये हैं, ये ही लोग राजा के आने पर उसकी प्रतीक्षा और जाने पर उसका अनुगमन करते हैं यह क्यों कहा गया? राजा का स्वागत और अनुगमन तो सभी लोग करते हैं यह क्या बात है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! राजा का अभिनन्दन और अनु गमन तो सभी प्रजाजन करते हैं, किन्तु ये तीन प्रकार के लोग विशेष रूप से राजा के आने की प्रतीक्षा करते हैं। इनमें दो तो

राजसेवक हैं एक प्रजाओं के प्रतिनिधि हैं। राजा के आने पर राजसेवकों को तो उनका प्रबन्ध करना ही चाहिये।"

प्राचीन काल में चार वर्ण होते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण तो क्षत्रियों के पूज्य होते थे। ब्राह्मणों से न किसी प्रकार का कर ही लिया जाता था और न बड़े से बड़ा अपराध करने पर उन्हें प्राण दण्ड ही दिया जाता था। अत्यन्त घोर अपराध करने पर राजा लोग ब्राह्मण को देश से चले जाने को कह देते थे। ब्राह्मण का क्षत्रिय स्वयं सम्मान करते थे। उनकी गणना प्रजा के लोगों में नहीं होती थी।

अब रहे क्षत्रिय सो क्षत्रिय स्वयं ही राजा होते थे। भूमि के स्वामी क्षत्रिय ही माने जाते थे। क्षत्रिय चाहे एक ग्राम का राजा हो चाहे लाख ग्राम का, जाति सम्बन्ध से वे समान ही माने जाते थे। अतः क्षत्रियों की गणना भी प्रजा के लोगों मे नहीं होती थी। अब शेष रह गये वैश्य, शूद्र और वर्णसंकर। ये तीन ही प्रजाजन माने जाते थे। इन प्रजाजनों में वैश्य सबसे श्रेष्ठ प्रजाजन हैं। इसलिये वे श्रेष्ठ, सेठ, चेट्ट या चेट्टी कहलाते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये नौकरी नहीं करते थे। राजा की नौकरी करने वाले वर्णसंकर या शूद्र ही होते थे। चर (पुलिस) विभाग में उग्रजाति के ही लोग होते थे। ब्राह्मण को चार वर्ण की क्षत्रिय को तीन वर्ण की, वैश्य को दो वर्ण की और शूद्र को एक ही वर्ण की कन्या से विवाह करने का अधिकार था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य पहिले अपने वर्ण की कन्या के साथ विवाह कर लें, तब फिर चाहे तो दूसरे वर्ण की कन्या से भी विवाह कर सकते थे। अपने वर्ण की स्त्री धर्मपत्नी कहलाती थी। शेष उपपत्नियाँ कहलाती थीं। अपने वर्ण की पत्नी में जो सन्तानें होगीं वे ही पिता के वर्ण की मानी जायँगी। उपपत्नियों से

जो सन्तानें होंगीं, वे या तो माता की जाति की मानी जायँगी या पिता और माता के बीच की जाति। उपपत्नियों की सन्तानें अनुलोम संकर वर्ण की होती हैं। अनुलोम वे संकर जातियाँ कहलाती हैं जिनका पिता तो उच्च वर्ण का हो और माता उस से हीन वर्ण की हो। जैसे ब्राह्मण से क्षत्रिय वैश्य, अथवा शूद्र जाति की पत्नियों में, क्षत्रिय से वैश्य, शूद्र पत्नियों में और वैश्य से शूद्र पत्नी में जो होंगे वे सब अनुलोम जाति के होंगे। दूसरे विलोम या प्रतिलोम संकर होते हैं। माता तो उच्च वर्ण की हो उससे हीन वर्ण का पिता हो। जैसे क्षत्रिय से ब्राह्मणी में उत्पन्न, वैश्य से क्षत्रिय तथा ब्राह्मणी में उत्पन्न शूद्र से वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण कन्या में उत्पन्न। ये अनुलोम सकरों से नीच माने जाते थे।

हाँ, तो क्षत्रिय से जो शूद्रा कन्या में उत्पन्न हो उसे उग्र जाति वाला कहते थे इस संकर जाति वाले क्षत्रिय और शूद्र के स्वभाव से युक्त होने से क्रूर आचरण और क्रूर विहार करने वाले उग्रकर्मा होते थे। राजाओं की सेनाओं में चरों (पुलिस विभाग में) प्रायः ये ही नौकर रक्खे जाते थे। क्षत्रिय से ब्राह्मण कन्या में जो उत्पन्न होते थे, वे सूत कहलाते थे। राजाओं की स्तुति करने का, पौराणिक कथा कहने का काम ये करते थे। राजाओं के मंत्री भी ये ही होते थे, रथ हाँकने का काम भी ये करते थे। सूत जाति वाले उपक्षत्रिय ही माने जाते थे।

वैश्य से ब्राह्मण कन्या में जो होते थे वे मागध कहलाते थे। ब्राह्मणों, क्षत्रियों से वेश्या, शूद्रा कन्या में उत्पन्न कायस्थ कहलाते थे। राज्य के छोटे से लेकर बड़े-बड़े पदों पर ये ही नियुक्त होते थे। यहाँ जो उग्र, सूत और ग्रामण्य इन तीन का इसलिये वर्णन आया कि उग्र तो वे सैनिक जो चर कार्यों में राजा की ओर

से नियुक्त होते थे। सूत वे जो पापियों को दंड देने में न्यायाधीश कार्य में--नियुक्त थे। और ग्रामण्य या श्रेष्ठ ग्राम के उन धनिकों को कहते हैं जो ग्राम के मुखिया हों वे राज्य की समस्त प्रजा के प्रतिनिधि माने जाते थे। इसका अभिप्राय यह हुआ कि समस्त राज्य कर्मचारी तथा समस्त प्रजा के जन राजा के आने पर उसका उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करते थे, तथा उसके जाने पर उसका अनुगमन करते थे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने मृत्यु सम्बन्धी मीमांसा कही। अब आगे मरणोन्मुख जीव की क्या दशा होती है, इसका वर्णन आगे किया जायगा।"

छप्पय

नृपति नगर तैं विदा होइ सेवक आ जावैं।
दल पुलिसनि के उग्र सबहि अभिमुख ह्वै आवैं॥
पाप करम में नियुत श्रेष्ठि मुखिया सजि-बजि कें।
नृप के पीछे चलें विदा वेला में मिलि कें॥
त्यों ही तनु तजि जीव जिहि, अन्तकाल में जाइ जब।
आतमा अभिमुख प्राण सब, साथ साथ ही जाइँ तब॥

इति वृहदारण्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में तीसरा ज्योति ब्राह्मण समाप्त।

—o—

मरते समय जीव की दशा

[२५१]

स यत्रायमात्मावल्यं न्येत्य सम्मोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्रा समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्या-चर्ततेऽथारूपज्ञो भवति ॥*

(बृ० उ० ४ अ० ४ ब्रा० १ म०)

छप्पय

मरन काल महँ पुरुष होइ मूर्छित शीतल अँग ।
सहित वासना हिये माहिँ आवे इन्द्रिनि सँग ॥
विषय ज्ञान नहिँ रहै रूप रस अनुभव नहिँ करि ।
मन, त्वक, रसना, प्राण, वाक, श्रोत्रहु अकाज फिरि ॥
दश द्वारनि में एक तें, निकसै बाहिर जीव जब ।
साथ प्रान इन्द्रिय निकसि, जाइँ ज्ञान, धी, करम तब ॥

---

* यह जो जीवात्मा है, जिस समय निर्बलता को प्राप्त होकर के सम्मोह को प्राप्त हो जाता है। तब वागादि इन्द्रियाँ इसके सम्मुख आ जाती हैं। यह इन तेजोमात्र इन्द्रियों को हृदय मे ही धारण करता है। यह चाक्षुष म्रियमाण पुरुष जहाँ रूपादि से पराङ्मुख होता हुआ हृदय देश मे लौट आता है। तब वह रूप कौन पहिचानने वाला होता है।

लाक मे एक कहावत है जिसे विपयो में भली भाँति फँसना हो, वह सौ बरातो में चला जाय और जिसे ससार से वैराग्य प्राप्त करना हो वह सौ मरने वालों के कृत्यो में सम्मिलित हो।" विवाहों मे स्त्री तथा पुरुपों मे जो सरसता का सचार होता था, वह चिरकाल तक भुलाया नहीं जा सकता था। अब तो काल क्रम से विवाह एक लीक पीटने की प्रथा मात्र रह गये हैं। जिन दिना विवाह एक परम मगल कृत्य-सबसे अधिक प्रसन्नता के पर्व-माने जाते थे, उन दिनों महीनों पहिले से गीत वाद्य, नृत्य आरम्भ हो जाते थे। आज तेल चढाने का पर्व है, आज हल्दी है, आज कङ्कण है। स्त्रियों की टोलियों की टोलियाँ आ आकर विवाह के महीनो पहिले मगल गीत गाती थीं। नाचती थीं, उत्सव मनाती थीं। अपने सगे सम्बन्धी, दूर-दूर के सम्बन्ध की बहिन, भतीजियाँ अपनी ससुराल से बुलायी जाती थीं। नित्य आस पास के गाँवों से चाव आती। कोंमरी, खीकरी, पूड़ियों की भर मार रहती, सम्बन्धियो का जमघट जुडता। सभी मिलकर बरात में जाते। उधर भी सम्बन्धी जुटते। कई दिनो तक बरात टिकती। स्त्रियाँ भाँति भाँति की गालियाँ गातीं। गाँव भर की लडकियाँ, स्त्रियाँ, बरातियों से हँसा विनोद करतीं। वर पक्ष के बराती चाहें जिससे हँसी ठट्ठा करें सबको छूट थी। विवाह म चारों ओर ऐसी सरसता छा जाती कि अच्छे अच्छे लोगों के भी मन विचलित हो जाते। ऐसे सरसता के वातावरण में विपय वासनामय ही मन बन जाता था। इसीलिये परमार्थ पथ के पथिक को कभी भूलकर भी बरातों में नहीं जाना चाहिये। उसे मरने वाले पुरुषों के समीप, मृतक के अन्तिम सस्कारों में-स्नशानादि में-जाना चाहिये। वहाँ जाने से वैराग्य की वृद्धि होती है।

मरते समय मनुष्य की कैसी दयनीय दशा हो जाती है। मृत्यु से पूर्व ही मुख मडल पर मृत्यु के पूर्व लक्षण स्पष्ट दिखायी देने लगते हैं। नाक टेढ़ी हो जाती है, आँखें निस्तेज बन जाती हैं। कानों से सुनायी नहीं देता। घर वाले चिल्लाकर पूछते हैं—"कुछ खाओगे ?" कुछ कहना तो नहीं है, किसी का कुछ लेना देना तो नहीं है ?" देने का तो नाम हैं, उनके पूछने का अभिप्राय यही है, कुछ छिपाकर रखा हो, तो बता दो। शरीर की नाडियों मे से प्राण खिचते हैं, महान् कष्ट होता है, ऊर्ध्वस्वॉस चलने लगती है, मुख से वाणी नहीं निकलती बोलने की इच्छा होने पर बोल नहीं सकते। समीप में खड़े सगे-सम्बन्धियों को पहिचान नहीं सकते। आँखें फटी की फटी रह जाती हैं। कण्ठ में कफ हिटकने से स्वॉस लेने मे महान् कष्ट होता है। पैरों को पटकता है, इधर से उधर करवट बदलता है। न बैठा ही जाता है न लेटा ही जाता है। मुमुर्षु पुरुष के अन्तिम समय के कष्ट को उसके अतिरिक्त दूसरा कोई अनुभव कर ही नहीं सकता। उसकी उस दशा को देखकर संसार से कुछ ही क्षण को सही वैराग्य होता है। तब स्मरण आता है एक दिन हमें भी मरना है। फिर उस मृतक देह को स्मशान मे ले जाकर जलाते हैं। जिसे सुन्दर, स्वच्छ, चिकनी चुपड़ी बनाये रखने को न जाने कितने अग राग लगाये थे, कितने सुगधित तैल मले थे, उस शरीर को चिता में रख देते हैं। धू-धू करके चिता जलने लगती है, अग भस्म होने लगते हैं देखते हा देखते इतने लम्बे चौड़े शरीर को एक मुट्ठी भस्म हो जाती है। कुछ दिन लोग नाम लेते हैं, फिर उसे भी भूल जाते हैं। जिन्होंने जन्म लिया है उन सबकी यही दशा होने की है। अतः मृत्यु को सदा स्मरण करो। *मरणोन्मुख पुरुष की दशा को देखकर संसार से वैराग्य करो।*

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महर्षि याज्ञवल्क्यजी महाराज जनक को उपदेश करते हुए कह रहे हैं—"राजन्! यह जो जीवात्मा है, वृद्धावस्था के कारण, रोगों के कारण अथवा शाप तथा अभिचारादि कर्मों के कारण जब दुर्बल हो जाता है, तब यह मानो सम्मोह को प्राप्त हो जाता है। तब ये वाणी आदि प्राण के आधार भूत इन्द्रियाँ इसके सम्मुख आती हैं। तब यह जीवात्मा इन इन्द्रियों की तेजोमात्रा को भली-भाँति ग्रहण करके हृदय प्रदेश में ले जाकर अभिव्यक्त करता है। अर्थात् इन इन्द्रियों के सूक्ष्म रूप को हृदय में धारण कर लेता है। जब यह चाक्षुस जीव इस पहिले शरीर का परित्याग करके दूसरे शरीर में जाना चाहता है, तो इस शरीर को परित्याग करने वाला—मरने वाला—मुमुर्षु शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से पराङ् मुख होता हुआ हृदय प्रदेश में लौटता है, तब यह रूपादि ज्ञान से शून्य हो जाता है। उस समय समस्त इन्द्रियाँ इस लिङ्गात्मा पुरुष से एक रूप हो जाती हैं। चक्षु, घ्राण, रसना, वाणी, श्रोत्र, त्वचा, मन तथा बुद्धि ये जब सब की सब लिङ्गात्मा पुरुष से एक रूप हो जाती हैं। तब लोग कहने लगते हैं—"अजी, यह मरने वाला—मुमुर्षु—देखता नहीं, सूँघता नहीं, चखता नहीं, बोलता नहीं, सुनता नहीं, मनन नहीं करता, स्पर्श नहीं करता, जानकर दृढ़ निश्चय नहीं करता। वह जीवात्मा शरीर के दश द्वारों में से किसी एक द्वार से निकलने का निश्चय कर लेता है। जिस द्वार से जाने का निश्चय करता है, वह चाहे नेत्र, चक्षु, कर्ण तथा मुखादि सात द्वारों में से एक हो अथवा नीचे के मूल-मूत्र द्वारों में से कोई हो या मूर्द्धा में बन्द दशम द्वार हो, जिस मार्ग से जाना चाहता है वह अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है और उसी द्वार से बाहर निकल जाता है।

उसके बाहर निकलने पर प्राणाधीन समस्त इन्द्रिय वर्ग उसके पीछे-पीछे उसका अनुगमन करते हैं। जब जीवात्मा एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर में जाने लगता है उस समय वह विशेष विज्ञानवान् होता है। अर्थात् उसे यह भली-भाँति ज्ञात रहता है, कि अब मुझे अमुक स्थान पर अमुक योनि में जाना है। इस-लिये वह इधर-उधर योनियों को खोजता हुआ भटकता नहीं। जिस योनि में जाना पूर्व से निश्चित होता है, उसी प्रदेश में जाकर उस योनि में प्रवेश करता है।

पीछे दृष्टान्त दे आये हैं, कि जैसे भार से लदा हुआ शकट—गाड़ा--चीं-चीं शब्द करता हुआ चलता है, गाड़ा को चलाने वाला जो गड़वाला होता है वह दूसरे स्थान को जाते समय खाने के लिये अचार, परामठे, लड्डू, सकलपारे आदि खाने की वस्तुयें -पाथेय-साथ बाँधकर ले जाता है। उसी प्रकार इस शरीर रूपी शकट का गड़वारा--यह जीवात्मा--अन्य योनि में भोगने के लिये-खाने के लिये--कुछ पाथेय बाँधकर ले जाता है। वह पाथेय क्या है? वे तीन वस्तुएँ हैं। विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा। ये ही परलोक के पाथेय हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"विद्या क्या?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! विद्या तीन प्रकार की होती है। विहित विद्या, अविहित विद्या तथा प्रतिषिद्धि विद्या। एक तो वेदादि शास्त्रों का अध्ययन यह विहित विद्या है दूसरे अन्य संसारी विषयों का अध्ययन अविहित विद्या है और नास्तिकों के ग्रन्थों का अध्ययन निषिद्ध या प्रतिषिद्ध विद्यायें, जैसी विद्या उसने पढ़ी होगी उसका ज्ञान जीव के साथ जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"कर्म क्या?"

सूतजी ने कहा—"जो क्रिया की जाती है उसे कर्म कहते

हैं। कर्म भी तीन प्रकार के होते हैं। विहित कर्म, अविहित कर्म, और विकर्म अथवा प्रतिपिद्ध निपिद्ध कर्म। विहित कर्म तो यज्ञ दान, तपस्यादि कर्म हैं। अविहित कर्म वे हैं जो यज्ञ के लिये किये हुए कर्मों से पृथक् हों। विपय सम्बन्धी लौकिक कर्म। निपिद्ध या प्रतिपिद्ध कर्म चोरी, हिंसा, धूतादि कर्म हैं। इन कर्मों के फल भी जीव के साथ जाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"पूर्वप्रज्ञा क्या ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! प्रज्ञा कहते हैं पिछले किये हुए कर्मफलों के अनुभव को। अर्थात् पिछले जन्मों में हमने ये ये कर्म किये थे, उनके हमें ये-ये फल भोगने पड़े। यह पूर्व अनुभव सम्बन्धिनी प्रज्ञा भी जीव के साथ-ही-साथ जाती है, जीवात्मा तब तक गर्भ में रहता है, तब तक विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा का उसे ज्ञान रहता है। पेदा होने पर-संसार में आते ही--इन सब बातों को भूल जाता है। किसी-किसी को किसी कारणवश पूर्वजन्म की स्मृतियाँ बनी भी रहती हैं। पूर्वप्रज्ञा-अर्थात् अतीत के कर्म फलों की वासना ही आने वाले कर्मों के आरम्भ करने में और कर्म विपाक में अंगभूता होती है। पूर्व वासना द्वारा ही ये कर्मों को करता है तथा उन कर्मों के फलों को भोगता है। जैसी जिसकी पूर्वजन्म की वासना होती है, उस वासना के अनुसार ही कर्मों में- प्रवृत्ति होती है। एक व्यक्ति है वह आरम्भ से ही कला कौशल में बड़ा पटु होता है। तनिक से संकेत से-देखने मात्र से ही उसे कला-कौशल का ज्ञान हो जाता है। दूसरा अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी उसे सीखने में समर्थ नहीं होता। इसमें पूर्वप्रज्ञा--कर्म फलानुभव की वासना--ही मुख्य कारण है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मान लो-एक मनुष्य है, मर-

कर उसे घोड़ा की योनि में जाना है, तो वह कैसे जायगा। मनुष्य से सहसा घोड़े के सस्कार उसमे कैसे आ जायँगे।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा के अनुसार जीव पहिले स ही मानसिक रचना कर लेता हे। जैसे स्वप्न मे शरीर तो शेया पर पडा रहता हे, इन्द्रियाँ प्रसुप्त रहती हैं। जीवात्मा स्वप्न का शरीर निर्माण करके स्वप्न क पदार्थो का भी अपने आप ही निर्माण कर लेता है। इसी प्रकार दूसरे शरीर मे जाने के पूर्व ही जाने वाले देह के सस्कार उसके मन मे निर्मित हो जाते हैं। रहता तो पहिले ही शरीर मे हे, किन्तु मरने के पूर्व जाने वाली योनि के विषय मे सस्कारवश सोचता रहता हे। मृत्यु क्या है? यह भी एक चिरनिद्रा की स्थिति हे। अत्यन्त विस्मृत का ही नाम मृत्यु है। भाव यह हुआ कि मरने से पूर्व सस्कारों द्वारा वह जान वाली योनि में कुछ अशो मे चला जाता हे। इस विषय मे तृणजलायुका–जोंक का–दृष्टान्त देते हैं। एक काड़ा होता है, जब वह एक तृण से दूसरे तृण पर जाता है, तो पहिले अपने आधे अग से जाने वाले तिनका को कसकर पकड लेता है, जब आगे वाले को पकड लेता है तब पीछे वाले शरीर के भाग का परित्याग करके अपने को सिकोड़कर पूर्णरूप स जाने वाले तृण पर चला जाता है। इसी प्रकार यह जीवात्मा पहिले वासना से दूसरे शरीर में चला जाता है फिर शरीर को मारकर इसे अत्यन्त विस्मृत–अचेतनावस्था–मे करके दूसरे जाने वाले आधार का आश्रय लेकर पूर्ण रूप से उसमे चला जाता है। यह पूर्व का शरीर मृत बन जाता है। इसका उपसहार करके उसमें प्रविष्ट हो जाता है। जो पुण्यात्मा होते हैं वे पुण्य शरीर को प्राप्त होते हैं और जो पापात्मा होते हैं, वे पाप शरीर को प्राप्त करते हैं। योनियाँ कर्मानुसार ही प्राप्त होती हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इस मनुष्य शरीर से पितर, गन्धर्व, देवता प्रजापति तथा ब्रह्मादि के पुण्य शरीर कैसे प्राप्त होते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! ये सब परम पुण्यों के ही द्वारा प्राप्त होते हैं। यह आत्मा तो सर्वमय है न ? फिर भी कर्मों के अनुसार इस जीव को ऊँच-नीच योनियाँ प्राप्त होती हैं। इस विषय का विशेष विवेचन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जोंक पकरि तृन अन्य प्रथम तजि कें जावै भगि।
त्यों जीवात्मा द्वितिय देह प्रविसै प्रथमहिँ तजि॥
मृतक प्रथम तनु होइ द्वितिय में तब पुनि जावै।
ज्यों सुनार लै कनक मलिन कूँ नयो बनावै॥
ज्यों पुण्यात्मा पुरुष-तनु तजि नूतन शुभ तनु धरत।
पितर, देव, गन्धर्व, अज, प्रजापतिहिँ तनु कूँ भजत॥

१. भागवती कथा (१०८ खडो मे)—अब तक ६६ खण्ड छप चुके हैं। प्रत्येक खड की न्योछावर २ रु०।

श्रीमद्भागवत को उपलक्ष्य बनाकर इसमें अष्टादश पुराण तथा सभी वेद शास्त्रो का सार सरल, सुगम, सरस भाषा मे वर्णित है। पढते पढ़ते आपकी तृप्ति न होगी, एक अध्याय को समाप्त करके दूसरा अपने आप ही पढने लगोगे। सर्वथा औपन्यासिक शैली मे लिखी है, भाषा इतनी सरल ओजपूर्ण है कि थोड़े पढ़े बालक मातायें तथा साधारण पुरुष भी समझ सकते हैं। अध्याय के आरम्भ मे एक श्रीमद्भागवत का श्लोक होता है फिर एक उसी भाव की छप्पय, फिर उसी अध्याय की सारगर्भित भूमिका। तदनन्तर प्रतिपादित विषय, दृष्टान्त और सरल कथाओ तथा कथोपकथन के रूप मे वर्णित है। अन्त मे एक छप्पय देकर अध्याय की समाप्ति की है। प्रत्येक खड मे १५-२० अध्याय होते हैं, लगभग दो सौ, ढाई सौ पृष्ठो का एक खड होता है। प्रत्येक खड का मूल्य २) रुपया। उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बहुत-सी जिला परिषदो के पुस्तकालयों के लिये सरकार द्वारा स्वीकृत है। ६८ खडों मे तो श्रीमद्भागवत के आधार पर विवेचन है ६९ वें खड से ८४ खड तक गीतावार्ता नाम से श्रीमद्भागवत्‌गीता का विवेचन, खड ८५ से उपनिषद्-अर्थ २४) रु० भेजकर स्थायी ग्राहक बनें। वर्ष के १२ खड आपको घर बैठे रजिस्ट्री से मिल जाया करेंगे।

६० खडों में तो कथा भाग समाप्त हो गया है। शेष खडों में से प्रत्येक मे किसी एक विषय का विवेचन होता है। सभी खड प्रायः स्वतन्त्र हैं। विद्वानो नेताओ तथा प्रतिष्ठित पुरुषों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हमारा बडा सूची-पत्र बिना मूल्य मँगाकर बहुत से विद्वानों की सम्मतियाँ पढ़ें यह ग्रन्थ किसी का अक्षरशः अनुवाद नहीं स्वतन्त्र विवेचन है।

२. भागवत चरित सप्ताह (पद्यो मे)—यह भागवत का सप्ताह है। छप्पय छन्दो मे लिखा है। सैकडो सादे चित्र ५-६ बहुरगे चित्र हैं कपडे की सुन्दर जिल्द है, लगभग हजार पृष्ठों की पुस्तक का मू० ६ रु० ५० पैसे, पाँच सस्करणो मे अब तक २३ हजार प्रतियाँ छप चुकी हैं। विहार सरकार द्वारा पुस्तकालयो के लिये स्वीकृत है।

३ भागवत चरित (सटीक दो भागो मे)—अनुवादक—प० रामानुज पाडेय, बी० ए० विशारद "भागवत चरित व्यास" भागवत चरित की सरल हिन्दी मे सुन्दर टीका हैं प्रत्येक खडो मे म ९०० सौ से अधिक पृष्ठ है, एक खड का २१) रु० दोनो खड ४२) डाक व्यय अलग।

४ बद्रीनाथ दर्शन—श्री बद्रीनाथ यात्रा पर यह बडा ही खोजपूर्ण ग्रन्थ है। बद्रीनाथ यात्रा की सभी आवश्यक बातो का तथा समस्त उत्तराखड के तीर्थों का इसमे वर्णन है। लगभग सवाचार सौ पृष्ठो की सजिल्द सचित्र पुस्तक का मूल्य ५) रुपया। भारत सरकार द्वारा अहिन्दी प्रान्तो के लिये स्वीकृत है।

५ महात्मा कर्ण—महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण का यह अत्यन्त ही रोचक शिक्षाप्रद तथा आलोचनात्मक जीवन-चरित्र है। ३५६ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य ३ रु० ४५ पैसे।

६. मतवाली मीरा—मीराबाई के दिव्य जीवन की सजीव झाँकी तथा उनके पदो की रोचक भाषा मे व्याख्या। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २ रु० ५० पैसे हैं। यह इसका छठा सस्करण है।

७. नाम सकीर्तन महिमा—नाम सकीर्तन के ऊपर जितनी भी शकायें उठ सकती हैं उनका शास्त्रीय ढङ्ग से युक्तियुक्त विवेचन है। मूल्य ६० पैसे।

८. श्रीशुक (नाटक)—श्रीशुकदेव मुनि के जीवन की दिव्य झाँकी। पृष्ठ स० १०० मूल्य ६५ पैसे।

९. भागवती कथा की बानगी—भागवती कथा के खडों के कुछ

अध्याय बानगी के रूप मे इसमे दिये गये हैं। इसे पढकर आप भागवती कथा की शैली समझ सकेंगे। पृष्ठ १०० मू० ३१ पैसे।

१०. शोक शान्ति—अपने प्रिय स्वजनो के परलोक प्रयाण पर सान्त्वना देने वाला मार्मिक पत्र। शोक सतप्तो को सजीवनी बूटी है। पृष्ठ ६४ मूल्य ३१ पैसे। पचम सस्करण।

११. मेरे महामना मालवीयजी—महामना मालवीयजी के सुखद सस्मरण १३५ पृष्ठ की छोटी पुस्तक, मूल्य ३१ पैसे।

१२. भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दु पुनः हिन्दु बन सकते हैं, इस प्रश्न का शास्त्रीय ढङ्ग से प्रमाणो सहित विवेचन बडी ही मार्मिक भाषा मे किया गया है, वर्तमान समय मे जब विधर्मी अपनी सख्या बढा रहे हैं यह पुस्तक बडी उपयोगी है। पृष्ठ ७६ मूल्य ३१ पैसे।

१३. प्रयाग माहात्म्य—तीर्थराज प्रयाग के माहात्म्य पर ३२ पृष्ठ की छोटी-सी पुस्तक मूल्य २० पैसे।

१४. वृन्दावन माहात्म्य—श्रीवृन्दावन के माहात्म्य पर लघु पुस्तिका। मूल्य १२ पैसे।

१५. राघवेन्द्र चरित (छप्पय छन्दो मे)—श्रीरामचन्द्र जी की कथा के ६ अध्याय भागवत चरित से पृथक् छापे हैं। रामभक्तों को नित्य पाठ के लिये बडी उपयोगी है। पृष्ठ स० १६०। मूल्य ४० पैसे।

१६ प्रभुपूजा पद्धति—भगवान् की पूजा करने की सरल सुगम शास्त्रीय विधि इसमे श्लोको सहित बताई है। श्लोकों का भाव दोहाओं में भी वर्णित है। मूल्य २५ पैसे।

१७. चैतन्य चरितावली—महाप्रभु चैतन्यदेव की जीवनी। प्रथम खण्ड का मूल्य १ रु० ६० पैसे। अन्य खण्ड भी छपने वाले हैं।

१८. भागवत चरित की बानगी—इससे भागवत चरित के पद्यो की सरसता जान सकेंगे। पृष्ठ १०० मूल्य ३१ पैसे।

छप्पय शतकत्रय

(श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

(राजर्षि भर्तृहरिजी के तीनो शतकों का छप्पय पद्यानुवाद)

संस्कृत भाषा का थोडा भी ज्ञान रखने वाला और वैराग्य पथ का शायद ही कोई पथिक होगा जिसने भर्तृहरि शतक का अल्पाश ही सही अध्ययन न किया हो। इन श्लोकों में महाराज भर्तृहरि का सम्पूर्ण ज्ञान वैराग्य मूर्तिमान हो उठा है। संस्कृत भाषा के अध्ययन के अभाव मे यह ग्रन्थरत्न आज धीरे धीरे नवीन पीढी के लोगो के लिये अपरिचित सा होता जा रहा है। श्री ब्रह्मचारी जी महाराज जैसे समर्थ एव वैराग्य धन के धनी महापुरुष ही इसके अनुवाद जैसे दुष्कर कार्य को कर सकते थे। बडी प्रसन्नता की बात है कि महाराज जी ने कई वर्षो से होने वाले जिज्ञासु एव भक्तों के आग्रह को इसके अनुवाद द्वारा पूर्ण किया।

आशा है वैराग्य पथ क पथिक सब प्रकार के जिज्ञासु विद्वान एव साधारण जन इससे लाभ उठावेंगे। ३०० से अधिक छप्पय की इस पुस्तक का मूल्य २.५० मात्र।